लगाकर रामप्रताप-पताकाको खड़ाकर सबको दिखा देना है। (द्विवेदीजी) पुनः, (च) 'नागपाशसे रघुपतिकीर्तिपताका गिर गयी थी, लक्ष्मणजीने मेघनादको मारकर अपने यशदण्डसे उसको फिर ऊँचा कर दिया'। (पाण्डेजी) ☞ स्मरण रहे कि जहाँ कहीं श्रीरामजीकी कीर्तिमें बट्टा लगनेकी बातका वर्णन हुआ, वहीं आपने उस कीर्तिको अपने द्वारा उन्नत कर दिया। जैसे धनुष-यज्ञमें श्रीजनकजीके *'बीर बिहीन मही मैं जानी'* इन वचनोंपर जब आपको कोप हुआ तब श्रीजनकजी सकुचा गये। परशुरामजीने जब जनकजीसे *'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं……'* और फिर श्रीरामजीसे *'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥'* (१। २७०-२७१) इत्यादि कटुवचन कहे तो लक्ष्मणजी न सह सके और भगवान्‌का अपमान करनेवाले परशुरामका मस्तक नीचा कर ही तो दिया! अरण्यमें शूर्पणखाकी नाक काटना, सुन्दरमें शुक-सारनके हाथ पत्रिका रावणको भेजना और लङ्कामें मेघनादवध आदि सब श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिपताकाको अपने यशदण्डपर फहरानेके उदाहरण हैं। पुनः, (छ) पताका दूरसे दिखायी देती है, पर दण्डा तभी दिखायी पड़ता है जब पास जावे, इसी तरह श्रीरामयश ख्यात है, परन्तु लक्ष्मणयश विचारनेही पर ही जान पड़ता है। 'पताका'का रूपक रावणवधसे और 'दण्ड' का रूपक मेघनादवधसे है। (रा० प्र०) (ज) बैजनाथजी लिखते हैं कि कीर्ति स्तुति और दानसे होती है। उसमें करुणरसका अधिकार होता है जिसमें सौशील्यता और उदारता आदि गुण होना आवश्यक है। यश कीर्तिको उन्नत करता है; इसमें वीररसका अधिकार है और शौर्य-वीर्यादि गुण होते हैं। श्रीलक्ष्मणजीमें शुद्ध वीररस सदा परिपूर्ण है, जो प्रभु श्रीरामजीके करुणरसका सहायक है। यथा—*'अनुज निसाचर कटक सँघारा।', 'चितवत नृपन्ह सकोप', 'बोले परसु धरहिं अपमाने'* इत्यादि।

नोट—२ यहाँ इस चौपाईमें शब्द-योजनाकी विशेषता यह है कि 'कीर्ति' से 'पताका' का रूपक दिया है और ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गके हैं। ऐसे ही 'यश' जो पुँल्लिङ्ग है उसका रूपक 'दण्डसे' दिया है जो पुँल्लिङ्ग है।

नोट—३ इस चौपाईका भाव लिखते हुए विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'अवतारका मुख्य हेतु रावणादिका वध था। इसीकी सहायता करनेमें लक्ष्मणजीने विशेष उद्योग किया था, तथा १२ वर्षतक नींद-नारि-भोजनका त्यागकर मेघनाद-सरीखे बड़े पराक्रमीका स्वतः वध किया तथा साधन करके अगणित राक्षसोंको भी मारा था।' [यथा—**'नासावन्यैर्निहन्यते। यस्तु द्वादश वर्षाणि निद्राहारविवर्जितः॥'** (अ० रा० ६। ८। ६४) जिस परात्पर परब्रह्मके अवतारकी कथा गोस्वामीजी कह रहे हैं उसमें उन्होंने न तो यही कहीं कहा है कि भोजन-शयन किया और न यही कहा कि नहीं किया, बल्कि भरद्वाजजीके आश्रममें उनके दिये हुए फलोंके खानेका उल्लेख है। एक रामायणमें किसी कल्पकी कथामें यह भी वर्णन है कि लङ्कामें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणकुमारको सोते हुए महिरावण उठा ले गया। अस्तु भिन्न-भिन्न कल्पकी भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं और यों तो शुद्ध तपस्वीका जीवन वनमें वे निर्वाह ही करते थे। इस प्रकारका संयम रखना उनके लिये कोई विचित्र बात नहीं। गीतावलीमें श्रीशबरीजीके यहाँ श्रीलक्ष्मणजीका फल खाना स्पष्ट कहा है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। जो[१] अवतरेउ भूमि भय टारन॥ ७॥

शब्दार्थ—**सीस**=शीश=सिर। **कारण**=हेतु=उत्पन्न करनेवाले। **टारन**=टालनेवाले व हटानेवाले।

अर्थ—हजार सिरवाले शेषजी और जगत्‌के कारण, जिन्होंने पृथ्वीका भय दूर करनेके लिये अवतार लिया॥ ७॥

नोट—१ इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे किये गये हैं। आधुनिक टीकाकारोंने प्रायः यह अर्थ किया है—'हजार सिरवाले और जगत्‌के कारण शेष जो पृथ्वीका भय मिटानेके लिये अवतरे हैं।' इस अर्थके

१—१६६१में 'जो' था, उसका 'सो' बनाया है, स्याही और लिखावट एक ही कलमकी है। अन्य सब पोथियोंमें 'जो' है। बैजनाथजीने भी 'सो' पाठ दिया है। 'सो' अगली अर्धालीमें आया है अतः हमने यहाँ 'जो' रखा।

अनुसार लक्ष्मणजी शेषावतार हुए। बैजनाथजी लिखते हैं कि सहस्र शीशवाले शेषजी और जगत्कारण विष्णु और '**सो**' अर्थात् द्विभुज गौरवर्ण श्रीलक्ष्मणजी जिन्हें पिछली चौपाईमें कह आये हैं, ये तीनों मिलकर एकरूप हो भूमिभय टारनेके लिये अवतरे हैं।' लक्ष्मण-अंशसे प्रभुकी सेवामें रहे, विष्णुरूपसे युद्ध करते रहे और शेषरूपसे प्रभुके शयन-समय पहरा देते, निषादादिको उपदेश, पञ्चवटीमें प्रश्न इत्यादि किये। परमधाम-यात्रा-समय तीनों रूप प्रकट हुए। शेषरूप सरयूमें प्रवेशकर पातालको गया। विष्णुरूप विमानपर चढ़कर वैकुण्ठको गया और नित्य द्विभुज लक्ष्मणरूप प्रभुके साथ परधामको गया।

इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा कही गयी है। जो ब्रह्मका अवतार मनु-शतरूपाके लिये हुआ उसमें लक्ष्मणजी नित्य हैं और शेषादिके कारण हैं। जहाँ विष्णुका अवतार है वहाँ लक्ष्मणजी शेष हैं। ग्रन्थमें सब कथाएँ मिश्रित हैं, पर मुख्य कथा मनु-शतरूपावाले अवतारकी है। हमने जो अर्थ दिया है वह करुणासिन्धुजी, बाबा हरिहरप्रसादजी आदिके मतानुसार है। उनका कहना है कि यहाँ लक्ष्मणजीको शेषजी और जगत् दोनोंका कारण कहा है। 'जो हजार सिरवाले शेषनाग हैं और जगत्के कारण हैं……।' ऐसा अर्थ करनेसे निम्न चौपाइयोंका समानाधिकरण कैसे होगा? (क) ***'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयेसु मोरा॥'*** (१। २६०) लक्ष्मणजी यहाँ अहि (=शेषजी) को आज्ञा दे रहे हैं। बराबरवालेको आज्ञा नहीं दी जाती। कारण अपने कार्यको स्वामी सेवकको आज्ञा देगा। (ख) ***'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज कनी। तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन धनी॥'*** (६। ८२) शेषजी हजार सिरपर जगत्को धारण किये हैं और यहाँ ***'एक सिर जिमि रज कनी'*** कहा है। पुन: (ग) श्रीरामचन्द्रजीका श्रीमुखवचन है कि '**तुम्ह कृतांत भक्षक सुरत्राता।**' (६। ५३) ***'जय अनंत जय जगदाधारा।'*** (लं० ७६) ***'सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥'*** (६। ५४)। इत्यादि ऐसा विचारकर श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीको शेषावतार कहनेसे आपमें अनित्यताका आरोपण होता है। लक्ष्मणस्वरूप नित्य है। सतीजी जब श्रीरामजीकी परीक्षा लेने गयीं तब अनेक श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी देखे पर आकृति सब स्वरूपोंकी एक ही देखी। यथा— ***'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता॥'*** (१। ५५) तीनों स्वरूप अखण्ड एकरस देखे। उपर्युक्त कारणोंसे लक्ष्मणजी शेषजीके कारण या शेषी हैं।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि वसिष्ठसंहितामें श्रीदशरथजी महाराज, उनकी रानियाँ और सब पुत्रों तथा पुरी, पुरवासियों और श्रीसरयूजी आदिकी वन्दना जो देवताओंने की है, उसमें श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति इन शब्दोंमें है—***'जयानन्त धराधार शेषकारण विग्रह। कोटि कन्दर्प दर्पघ्न सच्चिदानन्दरूपक॥'*** अर्थात् आपकी जय हो रही है, आप अनन्त हैं, ब्रह्माण्ड धारण करनेवाले शेषके कारणविग्रह हैं, करोड़ों कामदेवोंके अभिमानको चूर्ण करनेवाले हैं और सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। यह प्रमाण भी हमारे दिये हुए अर्थको पुष्ट करता है।

वे० भू० पं० रा० कु० दासजी कहते हैं कि नारदपाञ्चरात्रमें लक्ष्मणजीको शेषशायी क्षीराब्धीश श्रीमन्नारायण कहा है। यथा—'**वैकुण्ठेशस्तु भरत: क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मण:। शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामसेवार्थमागता:॥**' अत: ***'सेष सहस्त्रसीस जगकारन'*** का अर्थ जो दिया गया वही ठीक है। यदि यहाँ लक्ष्मणजीको केवल जगत्का कारण मानते हुए शेषका अवतार मान लिया जाय तो कुछ ऐसे प्रबल विरोध आ खड़े होंगे कि जिनका यथार्थ समन्वयपूर्वक परिहार करना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव हो जायगा। जैसे एक तो यह कि कहीं श्रुतियों-स्मृतियोंमें शेषका स्वतन्त्ररूपेण जगत्का कारण होना नहीं पाया जाता है और श्रीमन्नारायणको जगत्का कारण कहनेवाली बहुत-सी श्रुतियाँ-स्मृतियाँ हैं। दूसरे, जो जिसका कारण होता है वह उसका शासन कर सकता है, कार्य अपने कारणपर शासन नहीं कर सकता है। वैसे ही अवतार अपने अवतारीपर शासन नहीं कर सकता, अवतारी अवतारपर कर सकता है और करता भी है। जैसे कि अष्टभुजी भूमा नारायणने श्रीकृष्ण और अर्जुनको आज्ञा दी कि '**इह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे**' (भा० १०। ८९। ५९) और

श्रीकृष्ण एवं अर्जुनने वहाँ जानेपर **'ववन्द आत्मानम्'** (भा० १०। ८९। ५८) तथा लौटते समय भी **'ओमित्यानम्य भूमानम्'** (भा० १०। ८९। ६१), प्रणाम किया था। लक्ष्मणजीको शेष माननेके विरुद्ध वर्णन मानसमें ही मिलता है (जो ऊपर (क) (ख) (ग) में आ चुका है)। शेष नित्य जीव हैं और लक्ष्मणजी नाना त्रिदेवोंके कारण हैं। *'उपजहिं जासु अंस ते नाना।'* (१। १४४। ६ देखिये)

नोट—२ जहाँ श्रीअयोध्यावासियोंसहित परधामगमन प्रभुका रामायणोंमें वर्णित है, वहाँ लक्ष्मणजीके तीन स्वरूप कहे गये हैं। एक शेष-स्वरूप, दूसरा चतुर्भुज-स्वरूप और तीसरा द्विभुज किशोर धनुषबाणधारी श्रीलक्ष्मणस्वरूप जिससे वे सदा रामचन्द्रजीकी सेवामें रहते हैं। ब्रह्मरामायणमें इसका प्रमाण है। यथा— **'राम नैवोद्धितो वीरो लक्ष्मणो विदधत्स्वकः। रूपत्रयं महद्वेषं लोकानां हितकाम्यया॥ एकेन सरयूमध्ये प्रविवेश कृपानिधिः। सहस्रशीर्षा भगवान् शेषरूपी रसाश्रयः॥ रामानुजश्चतुर्बाहुर्विष्णुस्सर्वगुहाशयः। ऐन्द्रं रथं समारुह्य वैकुण्ठमगमद्विभुः॥ यानस्थो रघुनन्दनः परपुरीं प्रेम्णागमद् भ्रातृभिर्लोकानां शिरसि स्थितां मणिमयीं नित्यैकलीलापदाम्। सौमित्रिश्च तदाकलेन प्रथमं रामाज्ञया वर्तते तेनैव क्रमकेन बन्धुमिलितो रामेण साकं गतः॥'**(१—४) अर्थात् श्रीरामजीके साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजीने लोकोंके हितार्थ सुन्दर वेषवाले तीन रूप धारण किये। एक स्वरूपसे तो वे श्रीसरयूजीमें प्रविष्ट हुए। यह सहस्रशीश शेषरूप था। दूसरे स्वरूपसे इन्द्रके लाये हुए विमानपर चढ़कर वे वैकुण्ठको गये। यह चतुर्भुज विष्णुरूप था जो सर्वभूतोंके हृदयमें वास करते हैं और तीसरे द्विभुज लक्ष्मणरूपसे वे श्रीरामजीके साथ विमानपर बैठकर सर्वलोकोंकी सिरमौर, मणिमयी, नित्यलीलास्थली साकेतपुरीको गये, यथा—**'श्रीमद्रामः परं धाम भरतेन महात्मना। लक्ष्मणेन समं भ्राता शत्रुघ्नेन तथा ययौ॥'**(५) अर्थात् भाई श्रीराम महात्मा भरत और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नजीके साथ परधामको गये। सु० द्विवेदीजीका मत है कि अनन्योपासक अपने उपास्यदेवको अवतारी मानते हैं और उसीके सब अवतार मानते हैं। जयदेवने भी कृष्णको अवतारी मान उनके स्थानमें **'हलं कलयते'** इस वाक्यसे बलरामको अवतार माना है। उसी प्रकार गोसाईंजीने भी रामको अवतारी मान उनके स्थानमें लक्ष्मणको अवतार माना है। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि 'मेरी समझमें शेषके दोनों विशेषण हैं, *'सहस्त्रसीस'* और *'जग कारन'* न कि दोनों जुदे हैं। **'सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्।'** जगत्के उत्पादक, पालक और संहारक हैं। विष्णुपुराणमें ब्रह्माजीके वचन इस विषयमें हैं। लक्ष्मणजी शेष भी हैं और जगत्के कारण भी हैं।

नोट—३ *'जग कारन'* कहकर जनाया कि आप श्रीरामजीसे अभिन्न हैं। यथा—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'* (१। २१६) यह बात पायसके विभागसे भी पुष्ट होती है। श्रीकौसल्याजीने हविभाग सुमित्राजीको दिया, उससे लक्ष्मणजी हुए जो सदा रघुनाथजीके साथ ही रहे। भगवान्के वचन हैं कि *'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥'* (१। १५२) और लक्ष्मणजीकी वन्दनामें भी *'सीतल सुभग भगत सुखदाता'* ये शब्द हैं। इस तरह अभिन्नता दरसायी है। (विशेष १। १८७। २। ५ देखिये)।

सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥ ८॥

अर्थ—वे कृपासिन्धु श्रीसुमित्राजीके पुत्र और गुणोंकी खानि (श्रीलक्ष्मणजी) मुझपर सदा अनुकूल रहें॥ ८॥

नोट—१ (क) *'सेष सहस्त्र.....कृपासिंधु सौमित्रि०'* इति। *'कृपासिंधु'* कहकर सूचित किया कि कृपा, दया, अनुकम्पाहीसे अवतार लिया। *'भूमि भय टारन'* कहकर अवतारका हेतु बताया और *'सेष सहस्त्र.....'* से पूर्वरूप कहा। (पं० रामकुमारजी) (ख) *'सौमित्रि'* अर्थात् सुमित्रानन्दन कहकर जनाया कि आप उनके पुत्र हैं कि जो उपासनाशक्ति हैं और अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं और जिन्होंने अपने पुत्रको लोकसुख छुड़ाकर भक्तिमें आरूढ़ किया। यथा—*'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥ जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥ गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा*

सबही के॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं रामके नाते॥""सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥ ""तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीरपद नित नित नई॥' (२। ७५)। (वै०) (ग) **गुनाकर**=समस्त शुभ एवं दिव्य गुणोंकी खानि। यथा—*'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार।'* (१। १९७) श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, इसीसे इनकी उपासना सर्वत्र श्रीसीतारामजीके साथ होती है। ये सदा साथ रहते हैं। श्रीसीतारामजीका इनपर अतिशय वात्सल्य है। इसीसे इनकी अनुकूलता चाहते हैं।

नोट—२ लक्ष्मणजीकी वन्दना चार अर्धालियोंमें की, औरोंकी दो या एकमें की है, इसका हेतु यह है कि—(क) गोस्वामीजीकी सिफारिश करनेमें आप मुख्य हैं। यथा—*'मारुति-मन, रुचि भरतकी लखि लषन कही है। कलिकालहू नाथ! नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकरकी निबही है॥'* (विनय० २७९) इसीसे अपना सहायक जान उनकी सेवा-शुश्रूषा विशेष की है। नामकरण-संस्कार भी और भ्राताओंका एक-ही-एक चौपाईमें कहा और आपका पूरा एक दोहेमें कहा। (ख) ये श्रीरामजीका वियोग सह ही नहीं सकते। यथा—*'बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* (१। १९८) *'समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥ कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥ कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े॥'* (अयो० ७०)

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥ ९॥

शब्दार्थ—**अनुगामी**=पीछे चलनेवाला, आज्ञाकारी, सेवक। **सूर**=वीर।

अर्थ—श्रीशत्रुघ्नजीके चरणकमलोंको नमस्कार करता हूँ, जो बड़े वीर, सुशील और श्रीभरतजीके अनुगामी हैं॥ ९॥

नोट—१ (क) 'रिपुसूदन' इति। श्रीशत्रुघ्नजीके स्मरण वा प्रणाममात्रसे शत्रुका नाश होता है। यथा—*'जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥'* (१। १९७) *'जयति सर्वांगसुंदर सुमित्रा-सुवन, भुवन-विख्यात-भरतानुगामी। वर्मचर्मासि-धनु-बाण-तूणीर-धर शत्रु-संकट-समन यत्प्रणामी॥'* (विनय० ४०) शत्रुका नाशक वही हो सकता है जो शूरवीर हो। अतः *'रिपुसूदन'* कहकर *'सूर'* आदि विशेषण दिये। (ख) 'सूर' इति। इनकी वीरता परम दुर्जय लवणासुरके संग्राम और वधमें प्रकट हुई। (आपने उसका वध करके वहाँ मधुरापुरी बसायी)। यथा—*'जयति जय शत्रु-करि-केसरी शत्रुहन, शत्रु तम तुहिनहर किरणकेतू। ""जयति लवणाम्बुनिधि-कुंभसंभव महादनुज-दुर्जनदवन, दुरितहारी॥'* (विनय० ४०) वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्डमें लवणासुरवधकी कथा विस्तारसे है। पुनः रामाश्वमेधयज्ञमें आपने महादेवजीसे युद्ध किया, यह भी वीरताका एक उदाहरण है। यज्ञपशु-रक्षक आप ही थे; उसकी रक्षामें आपको बहुतोंसे युद्ध करना पड़ा था। पद्मपुराण पातालखण्डमें ये कथाएँ हैं।

टिप्पणी—*'सूर सुसील""'* इति। शूरकी शोभा शील है और शीलकी प्राप्ति *'बुध सेवकाई'* से है। यथा—*'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'* (७। ९०) अतः 'सूर' कहकर 'सुसील' कहा, फिर भरतजीकी सेवकाई कही। *'भरत अनुगामी',* यथा—*'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* (बा० १९८)

महाबीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥ १०॥

अर्थ—मैं महाबलवान् श्रीहनुमान्‌जीकी विनती करता हूँ, जिनका यश स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने वर्णन किया है॥ १०॥

नोट—१ 'महाबीर'—वीरता सुन्दरकाण्ड और लङ्काकाण्डभरमें ठौर-ठौर है। यथा—*'पुनि पठयो तेहि अक्षकुमारा।""ताहि निपाति महाधुनि गरजा।'* (सुं० १८) मेघनादके मुकाबिलेमें पश्चिम द्वारपर ये नियुक्त किये गये थे, कुम्भकर्ण-रावण भी इनके घूँसेको याद करते थे। (लङ्काकाण्ड दोहा ४२, ४३, ५० और ६४ में इनका प्रसंग है, देख लीजिये) आपका बल, वीरता देखकर विधि-हरि-हर आदि भी

चौंक उठे। इन्होंने तथा भीष्मपितामह-द्रोणाचार्यने भी इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यथा—*'बल कैधौं बीररस, धीरज कै, साहस कै, तुलसी सरीर धरे सबनिको सार सो॥'* *'कह्यो द्रोन भीषम समीरसुत महाबीर, बीर-रस- बारि-निधि जाको बल जल भो॥'* *'पंचमुख-छमुख-भृगुमुख्य भट-असुरसुर, सर्व-सरि-समर समरत्थ सूरो॥'* (४-५,३) हनुमानबाहुक। आपकी वीरता श्रीरामाश्वमेधयज्ञमें देखनेमें आती है। महादेवजी भी परास्त हो गये थे।

नोट—२ 'हनुमान्'—यह प्रधान नाम है। जन्म होनेपर माता आपके लिये फल लेने गयीं; इतनेमें सूर्योदय होने लगा। बालरविको देखकर आप समझे कि यह लाल फल है। बस, तुरन्त आप उसीको लेनेको लपके। उस दिन सूर्यग्रहण उस अवसरपर होनेको था। राहुने आपको सूर्यपर लपकते देख डरकर इन्द्रसे जाकर शिकायत की कि आज मेरा भक्ष्य आपने क्या किसी दूसरेको दे दिया? क्या कारण है? इन्द्र आश्चर्यमें पड़ गये, आकर देखा तो विस्मित होकर उन्होंने वज्रका प्रहार आपपर किया, जो वज्र अमोघ है और जिसके प्रहारसे किसीका जीवित बचना असम्भव ही है, सो उसके आघातसे महावीर श्रीमारुतनन्दनजीका कुछ न बिगड़ा, केवल हनु जरा-सा दब-सा गया और कुछ देरके लिये मूर्च्छा आ गयी। कहाँ श्रीहनुमान्‌जी नवजात शिशु और कहाँ इन्द्रका कठिन कठोर वज्र! इसीसे ऐसे बलवान् और महादृढ़ हनुके कारण श्रीहनुमान् नाम पड़ा। विशेष किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डमें देखिये।

नोट—३ *'राम जासु जस आपु बखाना'* इति। वाल्मीकीय-उत्तरकाण्ड सर्ग ३५में श्रीरघुनाथजीने महर्षि अगस्त्यजीसे श्रीहनुमान्‌जीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पाठकगण उसे वहाँ पढ़ लें। लक्ष्मणजीसे भी कहा है कि काल, इन्द्र, विष्णु और कुबेरके भी जो काम नहीं सुने गये वह भी काम श्रीहनुमान्‌जीने युद्धमें कर दिखाये। यथा—**'न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः॥'** (वाल्मी० ७। ३५। ८) मानसमें भी कहा है। यथा—*'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥'''''लोचन नीर पुलक अति गाता।'* (सुं० ३२) *गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥* (उ० ५०), *'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'* (कि० ३)।

प्रनवौं पवनकुमार, खल बन पावक ज्ञानघन*।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर-चाप-धर॥ १७॥

शब्दार्थ—**पवनकुमार**=वायुदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जी। **पावक**=अग्नि। **घन**=मेघ, बादल।= समूह, घना, ठसाठस, ठोस।=दृढ़। यथा—**'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तरे'** (अमरकोष ३। ३। ११०) **'त्रिषु सान्द्रदृढे च'** (मेदिनी)। **ज्ञानघन**=ज्ञानके मेघ अर्थात् ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेवाले।=ज्ञानके समूह।=सघन, ठोस वा दृढ़ ज्ञानवाले। **आगार**=घर। **सर चाप धर**=धनुष-बाण धारण करनेवाले।

अर्थ—दुष्टोंरूपी वनके लिये अग्निरूप, सघन दृढ़ ज्ञानवाले, पवनदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जीको मैं प्रणाम करता हूँ कि जिनके हृदयरूपी घरमें धनुष-बाणधारी श्रीरामचन्द्रजी निवास करते हैं॥ १७॥

नोट—१ 'श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना ऊपर चौपाईमें कर चुके हैं, यहाँ फिर दुबारा वन्दनाका क्या प्रयोजन है ?' इस शङ्काका समाधान अनेक प्रकारसे किया जाता है—(क) चौपाईमें **'महावीर'** एवं **'हनुमान'** नामसे वन्दना की और यहाँ *'पवनकुमार'* नामसे। तीन नामोंसे वन्दना करनेका भाव किसीने यों कहा है, *'महाबीर हनुमान कहि, पुनि कह पवनकुमार। देव इष्ट अरु भक्त लखि, बन्देउ कवि त्रयबार॥'* महाबीर नामसे इष्टकी वन्दना की, क्योंकि इष्ट समर्थ होना चाहिये, सो आप 'महावीर' हैं ही। *'पवनकुमार'* से देवरूपकी वन्दना की, क्योंकि पवन देवता हैं। दूसरे, जैसे पवन सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी रक्षाके लिये सर्वत्र

---

* ग्यानघर— १७२१, १७६२, छ०। ज्ञानघन—१६६१, १७०४, को० रा०। यह सोरठा है। इसमें आवश्यक नहीं है कि अन्तमें तुक मिले।

प्राप्त हैं। यथा—'*सेवक हित संतत निकट।*' (बाहुक) हनुमान् नामसे भक्तरूपकी वन्दना की। 'हनुमान्' होनेपर ही तो आप समस्त देवताओंकी आशिषाओंकी खान और समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अवध्य हुए जिससे श्रीरामसेवा करके रघुकुलमात्रको उन्होंने ऋणी बना दिया। (ख) चौपाईमें पहले भाइयोंके साथ वन्दना की, क्योंकि आप सब भाइयोंके साथ रहते हैं। यथा—'*भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥*' (७। ३२) '*हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥*' (७। ५०) भाइयोंके साथ हनुमान्‌जीकी वन्दना करनेका भाव यह भी है कि श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी रामभक्ति रामस्वभाव-गुणशील महिमाप्रभावके 'जनैया' (जानकार, ज्ञाता) हैं। यथा—'*जानी है संकर-हनुमान-लषन-भरत राम-भगति। कहत सुगम, करत अगम, सुनत मीठी लगति॥*' (गी० २। ८२) '*राम! रावरो सुभाउ, गुन सील महिमा प्रभाउ, जान्यो हर, हनुमान, लखन, भरत।*' (विनय० २५१) और सुग्रीव आदिके साथ वन्दना करके जनाया कि आप भी पापोंके नाशक हैं। (पं० रामकुमारजी) पुनः, (ग) श्रीरामचन्द्रजीका भाइयोंसे भी अधिक श्रीहनुमान्‌जीपर प्रेम है। यथा—'*तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।*' (४। ३)'*मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥*' (७। ८) '*संग परमप्रिय पवनकुमारा।*' (७। ३२) इसलिये दुबारा वन्दना की। पुनः, (घ) गोस्वामीजीपर हनुमान्‌जीकी निराली कृपा है। यथा—'*तुलसीपर तेरी कृपा, निरुपाधि निनारी॥*' (विनय० ३४) इसलिये गोस्वामीजीने ग्रन्थमें आदिसे अन्ततक कई बार इनकी वन्दना की और इनकी प्रशंसा भी बारम्बार की है। यथा—'**सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥**'(मं० श्लो० ४)'*महाबीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना।*' (१। १७। १०), '*प्रनवौं पवनकुमार*......' (यहाँ), '**अतुलितबलधामं**......**वातजातं नमामि॥**' (५ मं० श्लोक ३) '*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।*' (५। ३२) '*हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई॥*' (७। ५०) श्रीरामजीका दर्शन भी आपहीकी कृपासे हुआ, श्रीरामचरितमानसको प्रकाशित करनेके लिये हनुमान्‌जीने ही उनको श्रीअवधधाममें भेजा, पग-पगपर आपने गोस्वामीजीकी रक्षा और सहायता की। अतएव आपकी बारम्बार वन्दना एवं प्रशंसा उचित ही है। पुनः, (ङ) पंजाबीजीका मत है कि बार-बार गुरुजनोंकी वन्दना विशेष फलदायक है, अतः पुनः वन्दना की। (च) बैजनाथजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी तीन रूपसे श्रीरामजीकी सेवामें तत्पर रहते हैं—एक तो वीररूपसे जिससे युद्ध करते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं। दूसरे, श्रीचारुशीला (सखी) रूपसे जिसका यहाँ प्रयोजन नहीं। तीसरे, दासरूपसे। वीररूपकी वन्दना पूर्व की, अब दासरूपकी वन्दना करते हैं। [अर्चाविग्रहरूपमें आपके तीन रूप देखनेमें आते हैं। 'वीररूप', 'दासरूप' (हाथ जोड़े हुए) और मारुतिप्रसन्नरूप (आशीर्वाद देते हुए)।]

☞ यह तो हुआ दो या अधिक बार वन्दनाका हेतु! श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना श्रीभरतादि भ्राताओंके पीछे और अन्य वानरोंके पहले करना भी साभिप्राय है। आप सब भाइयोंके सेवक हैं, अतः सब भाइयोंके पीछे आपकी वन्दना की गयी। और, आपकी उपासना, आपका प्रेम और आपकी श्रीरामसेवा समस्त वानरोंसे बढ़ी-चढ़ी हुई है; यथा—'*सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत॥*' (विनय० १३४) अतएव इस श्रीरघुनाथजीके प्रेम और सेवाके नातेसे सब वानरोंसे पहले आपकी वन्दना की गयी। (पं० रामकुमारजी) देखिये, राज्याभिषेक हो जानेपर श्रीसुग्रीवादि सब विदा कर दिये गये, परन्तु श्रीहनुमान्‌जी प्रभुकी सेवामें ही रहे, इनकी विदाई नहीं हुई। यथा—'*हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ।*' (७। १७) '*पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥*' (७। १९) शीतल अमराईमें भी आप भगवान् रामके साथ ही हैं और वहाँ भी सेवामें तत्पर हैं। यथा—'*मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥*' (७। ५०)

नोट—२ 'प्रायः लोग यह शङ्का करते हैं कि सुग्रीव वानरराज हैं और हनुमान्‌जी उनके मन्त्री हैं, इसलिये पहले राजाकी वन्दना करनी चाहिये थी?' इसका उत्तर एक तो ऊपर आ हीं गया। दूसरे तनिक

विचारसे स्पष्ट हो जायगा कि वन्दनाका क्रम क्या है, तब फिर यह शङ्का ही न रह जायगी। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति प्रथम श्रीहनुमान्‌जीको हुई, फिर सुग्रीवको, तत्पश्चात् जाम्बवान्‌जीको। इसीके अनुसार वन्दना-क्रमसे एकके पीछे दूसरेकी की गयी।

३—*'प्रनवौं पवनकुमार'* इति। 'पवनकुमार' नामसे वन्दनाके भाव कुछ ऊपर आ गये। और भी भाव ये हैं—(क)'पवनकुमार' से जनाया कि ये सदा कुमार-अवस्थामें प्रभुकी सेवामें रहते हैं। उस कुमाररूपकी यहाँ वन्दना करते हैं। (वै०) (ख) पवनकुमार पवनरूप ही हैं। यथा—**'आत्मा वै जायते पुत्रः'**। पुनः, पवनकुमार अग्निरूप भी हैं, क्योंकि पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है। खलको वन और इनको अग्नि कह रहे हैं; इसीसे 'पवनकुमार' नामसे वन्दना की, क्योंकि पावक और पवन मिलकर वनको शीघ्र जलाकर भस्म कर देते हैं। (पं० रामकुमारजी)

नोट—४ दोहेके सब विशेषण *'खलबन पावक' 'ज्ञानघन' 'जासु हृदय आगार बसहिं राम'* इत्यादि हेतुगर्भित हैं— (क) पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है इसलिये 'पवनकुमार' कहकर फिर खलवनके लिये आपको अग्नि कहा। दावानलसे जो मेघ बनते हैं वे विशेष कल्याणदायक हैं। इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानरूपी परम कल्याणके देनेके लिये 'घनरूप' हैं। भाव यह है कि जब खलोंका नाश हुआ तब भगवत्-जनोंको स्वतः श्रीरामतत्त्वका ज्ञान उत्पन्न होने लगा। (मा० त० वि०) पुनः (ख) काम-क्रोधादि विषय ही खल हैं। यथा—*'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।'* (विनय० ५८) *'खल कामादि निकट नहिं जाहीं।'* (७। १२०) श्रीहनुमान्‌जी विषयकी प्रवृत्तिको पवन और अग्निके समान नाश करते हैं। यथा—*'प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय, विषय वन भवननमिव धूमकेतू॥'* (विनय० ५८) (पं० रामकुमारजी)। (ग) ज्ञानघन होनेके कारण कहते हैं कि शरचाप धारण किये हुए (धनुर्धर) श्रीरामचन्द्रजी सदैव हृदयमें बसे रहते हैं, आपको प्रभुका दर्शन निरन्तर होता रहता है और प्रभुका श्रीमुखवचन है कि *'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।'* (३। ३६) तब आपका ऐसा प्रभाव क्यों न हो? (मा० त० वि०) पुनः, (घ) *'खल बन पावक ज्ञानघन' 'जासु हृदय......'* से सूचित किया कि आपका हृदय शुद्ध एवं निर्मल है। आपने कामादिरूपी खलवनको (जो हृदयमें बसते हैं) अपने प्रचुर ज्ञानसे भस्म कर दिया। विकाररहित विशुद्ध हृदय हो जानेसे श्रीधनुर्धारी रामचन्द्रजी आपके हृदय-भवनमें बसते हैं, मलग्रसित हृदयमें प्रभु नहीं बसते। यथा—*'हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥'* (विनय० १८५) (बैजनाथजी) पुनः, (ङ) 'ज्ञानघन' से समझा जाता कि आप केवल ज्ञानी हैं, इस सन्देहके निवारणार्थ 'जासु हृदय......' कहा। अर्थात् आप परम भागवत भी हैं। बिना रामप्रेमके ज्ञानकी शोभा नहीं होती। वह ज्ञान ज्ञान नहीं जिसमें श्रीरामप्रेमकी प्रधानता न हो। यथा—*'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'* (२। २७७)*'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥'* (२। २९१) अतः ज्ञानघन कहकर *'जासु......'* कहा।

टिप्पणी—१ तीन विशेषण देकर जनाया कि—(क) जगत्‌में तीन प्रकारके जीव हैं। विषयी, साधक (मुमुक्षु) और सिद्ध। यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* (२। २७७) सो आप इन तीनोंके सेवने योग्य हैं। *'खल बन पावक'* कहकर विषयी लोगोंके सेवन करने योग्य जनाया। क्योंकि विषयी कामादिमें रत रहते हैं, आप उनकी विषयप्रवृत्तिका नाश कर उनको सुख देते हैं। (अथवा विषयी वे हैं जो सकाम भक्ति करनेवाले हैं। उनकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं) *'ज्ञानघन'* कहकर साधक (मुमुक्षु) के सेवने योग्य जनाया; क्योंकि मुमुक्षुको ज्ञान चाहिये, सो आप ज्ञानके समूह एवं ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेको मेघरूप हैं। *'जासु हृदय......धर'* से उपासकोंके सेवन करने योग्य जनाया। श्रीरामजी परम स्वतन्त्र हैं। यथा—*'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई।'* (१। १३७) *'निज तंत्र नित रघुकुलमनी।'* (१। ५१) पर वे भी श्रीहनुमान्‌जीके वशमें हैं, यथा—*'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥'* (१। २६) *'रिनिया राजा राम से धनिक भए हनुमान।'* (दोहावली १११) 'देबे-

को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥' (विनय० १००) सिद्ध आपकी सेवा करेंगे तो आप श्रीरामजीको उनके भी वश कर देंगे। यथा—*'सेवक स्योकाई जानि जानकीस मानै कानि, सानुकूल सूलपानि''''' 'सानुग सगौरि सानुकूल सूलपानि ताहि, लोकपाल सकल लखन राम जानकी।'* (बाहुक१२,१३) अथवा, (ख) *'खल बन पावक'* से आपके कर्म, *'ज्ञानघन'* से विज्ञानी होना और *'जासु''''धर'* से आपकी उपासना सूचित की। समस्त कर्मोंका फल ज्ञान है और ज्ञानका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा—'**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥**' (गीता ४। ३३) *'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपतिपद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥'* (७। ९५) अतः इसी क्रमसे कहे। कर्म-ज्ञान-उपासना तीनोंसे परिपूर्ण जनाया।

नोट—५*'बसहिं राम'* इति। 'राम' शब्द अन्तर्यामीमें भी लगाया जा सकता है; इसीसे *'सर चाप धर'* कहकर सूचित किया कि आप द्विभुज, श्यामसुन्दर, धनुष-बाणधारी श्रीसाकेतबिहारीजीके उपासक हैं। (रा० प्र०)

ज्ञानीमें साम्यभावका आशय
सिद्धावस्था और व्यवहार

श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी यहाँ यह शङ्का उठाते हैं कि 'ज्ञानघन' हैं तो *'खल बन पावक'* कैसे? अर्थात् ये दोनों बातें परस्परविरोधी हैं। ज्ञानमें तो सब प्राणिमात्रमें समता भाव हो जाता है। यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* और इसका समाधान स्वयं यों करते हैं कि जब देहमें फोड़ा-फुंसी, ज्वरादि कोई रोग हो जाता है तो दवाईसे रोग दूर किया जाता है। रोगके नाशसे सुख होता है। ज्ञानी जगत्को विराट्रूप देखते हैं। विराट्के अङ्गमें रावण राजरोग है। श्रीहनुमान्जी वैद्य हैं। यथा—*'रावनु सो राजरोगु बाढ़त बिराट-उर, दिनु-दिनु बिकल सकल, सुख राँक सो। नाना उपचार करि हारे सुर, सिद्ध, मुनि, होत न बिसोक, औत पावै न मनाक सो॥ रामकी रजाइतें रसाइनी समीरसूनु उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो। जातुधान-बुट पुटपाक लंक-जातरूप रतन जतन जारि कियो है मृगांक-सो॥'* (क० सुं० २५) मानो खलोंका नाश करके विराट्को सुखी किया।

इस विषयमें गीताका मत श्रीबालगङ्गाधर तिलकके गीता-रहस्यके 'सिद्धावस्था और व्यवहार' प्रकरण (समग्र) तथा 'भक्तिमार्ग' प्रकरण में पढ़नेयोग्य है। उसमेंसे कुछ यहाँ दिया जाता है—'समता शब्द ही दो व्यक्तियोंसे सम्बद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुषको मार डालनेसे जैसे अहिंसा-धर्ममें बट्टा नहीं लगता है, वैसे ही दुष्टोंका उचित शासन कर देनेसे साधुओंकी आत्मौपम्य बुद्धि या निश्शत्रुतामें भी कुछ न्यूनता नहीं होती। बल्कि दुष्टोंके अन्यायका प्रतिकारकर दूसरोंको बचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकी बुद्धि अधिक सम नहीं है जब वह परमेश्वर भी साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेकर लोक-संग्रह किया करता है (गी० ४ श्लो० ७ और ८) तब और पुरुषोंकी बात ही क्या है! यह कहना भ्रमपूर्ण है कि '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' रूपी बुद्धि हो जानेसे अथवा फलाशा छोड़ देनेसे पात्रता-अपात्रताका अथवा योग्यता-अयोग्यताका भेद भी मिट जाना चाहिये। गीताका सिद्धान्त यह है कि फलकी आशामें ममत्वबुद्धि प्रधान होती है और उसे छोड़े बिना पाप-पुण्यसे छुटकारा नहीं मिलता। किन्तु यदि किसी सिद्ध पुरुषको अपना स्वार्थ साधनेकी आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमीको कोई ऐसी वस्तु ले लेने दे कि जो उसके योग्य नहीं है तो उस सिद्ध पुरुषको अयोग्य आदमियोंकी सहायता करनेका तथा योग्य साधुओं एवं समाजकी भी हानि करनेका पाप लगे बिना न रहेगा। कुबेरसे टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाजारमें तरकारी-भाजी लेने जावे तो जिस प्रकार वह हरी धनियाकी गड्डीकी कीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्यका योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी

बुद्धि सम तो रहती है, पर 'समता' का यह अर्थ नहीं है कि गायका चारा मनुष्यको और मनुष्यका भोजन गायको खिला दे।

साधु पुरुषोंकी साम्यबुद्धिके वर्णनमें ज्ञानेश्वर महाराजने इन्हें पृथ्वीकी उपमा दी है। उस पृथ्वीका दूसरा नाम 'सर्वसहा' है। किन्तु यह 'सर्वसहा' भी यदि कोई इसे लात मारे तो मारनेवालेके पैरके तलवेमें उतने ही जोरका धक्का देकर अपनी समता बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भलीभाँति समझा जा सकता है कि मनमें वैर न रहनेपर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है।

अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है कि जब बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँच जावे तब वह मनुष्य अपनी इच्छासे किसीका भी नुकसान नहीं करता, उससे यदि किसीका नुकसान हो ही जाय तो समझना चाहिये कि वह उसीके कर्मका फल है। इसमें स्थितिप्रज्ञका कोई दोष नहीं।

प्रतिकारका कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण-बुद्धिसे करनेपर कर्त्ताको कोई भी दोष या पाप तो लगता ही नहीं, उलटा प्रतिकारका काम हो चुकनेपर जिन दुष्टोंका प्रतिकार किया गया है उन्हींका आत्मौपम्य दृष्टिसे कल्याण मनानेकी बुद्धि भी नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये। दुष्ट कर्म करनेके कारण रावणको, निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र (जी) ने मार तो डाला; पर उसकी उत्तर क्रिया करनेमें जब विभीषण हिचकने लगे तब रामचन्द्रजीने उसको समझाया कि '(रावणके मनका) वैर मौतके साथ ही गया। हमारा (दुष्टोंके नाश करनेका) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसा ही मेरा भी है। इसलिये इसका अग्नि-संस्कार कर' (वाल्मी० ६। १०९। २५)""भगवान्ने जिन दुष्टोंका संहार किया उन्हींको फिर दयालु होकर सद्गति दे डाली। उनका रहस्य भी यही है।

नोट—६ *'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर'* इति। इससे यह सूचित किया कि बाहरके दुष्ट तो आपका कुछ कर ही नहीं सकते। उनके लिये तो आप स्वयं समर्थ अग्निके समान हैं। पर अन्तःकरणके शत्रु बड़े ही बली हैं। यथा—*'बड़े अलेखी लखि परैं, परिहरै न जाहीं।'* (विनय० १४७) *'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३।३८) बिना धनुर्धारी प्रभुके हृदयमें बसे हुए इनका नाश नहीं हो सकता। यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७) इसलिये शर-चापधारी प्रभुको सदा अपने हृदय-सदनमें बसाये रहते हैं। ज्ञानी इसी विचारसे निरन्तर श्रीरामजीका भजन करते हैं। भगवान्ने नारदजीसे कहा भी है, *'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥""मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥'* (३।४३) पुनः, *'सर चाप धर'* से प्रभुका भक्तवात्सल्य दर्शाया है कि भक्तकी रक्षामें किञ्चित् भी विलम्ब नहीं सह सकते, इसीलिये सदा धनुष-बाण लिये रहते हैं। प्रपन्नजीसे *'सर चाप धर'* का एक भाव यह भी सुना है कि श्रीहनुमान्जीका हृदय श्रीरामजीका विश्रामस्थान है। यहाँपर आकर प्रभु आपके भरोसे निश्चिन्त हो जाते हैं। यथा—*'तुलसिदास हनुमान भरोसे सुख पौढ़े रघुराई'*; क्योंकि आप तो *'राम काज करिबेको आतुर'* ही रहते हैं, इसलिये यहाँ आकर शर-चाप धर देते हैं।

प्रश्न—'तो क्या कभी ऐसा अवसर पड़ा कि इन दुष्टोंने आपको घेरा हो और श्रीरामजीने रक्षा की हो?' इसका उत्तर है कि हाँ। जब श्रीहनुमान्जी द्रोणाचल पर्वतको लिये हुए अवधपुरीकी ओरसे निकले थे, तब उनको अभिमानने आ घेरा था। *'तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता॥ चढु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता॥'* (६। ५९) श्रीभरतजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीहनुमान्जीको अभिमान आ गया था। यथा—*'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥'* तब प्रभुने उनकी तुरन्त रक्षा की। यथा—*'राम प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर*

जोरी।''''' प्रभु हृदयमें विराजमान थे ही, तुरन्त उन्होंने अभिमानको दूर करनेवाला निज प्रभाव उनको स्मरण करा दिया जो वे जानते ही थे। यथा—*'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकइ खलु तूल॥'* (५। ३३) प्रभावका स्मरण होते ही अभिमान जाता रहा, यही रक्षा करना है।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा॥ १॥
बंदौं सब के चरन सुहाए। अधम सरीर राम जिन्ह पाए॥ २॥

शब्दार्थ—पति=स्वामी, राजा। सुहाए=सुन्दर।

अर्थ—वानरोंके राजा (सुग्रीवजी), रीछोंके राजा (श्रीजाम्बवान्‌जी), राक्षसोंके राजा (श्रीविभीषणजी) और श्रीअङ्गदजी आदि जितना वानरोंका समाज (सेना) है॥ १॥ जिन्होंने अधम (पशु) शरीरमें ही श्रीरामजीको पा लिया (प्राप्तकर लिया), मैं उन सबोंके सुन्दर चरणोंकी वन्दना करता हूँ॥ २॥

नोट—१ (क) *'राजा'* शब्द रीछ और निशाचर दोनोंके साथ है। जाम्बवान्‌जी ऋक्षराज हैं। यथा—*'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना', 'जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।'* (४।३०, ४।२९) यहाँ सुग्रीव, जाम्बवान् आदि भक्तोंकी ही वन्दना है। अतः उनके साहचर्यसे यहाँ 'निशाचरराज' से विभीषणजी ही अभिप्रेत हैं। (ख) *'अंगदादि''''समाजा'* से अठारह पद्म यूथपतियों और उनके यूथों आदिको सूचित किया तथा इनके अतिरिक्त इनके परिवार आदिमें भी जिनको भगवत्प्राप्ति हुई वे सब भी आ गये। (ग) *'सुहाए'* विशेषण देकर सूचित किया कि जो मनुष्य-शरीर सुरदुर्लभ है और जो *'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा'* कहा गया है उसमें भी भगवत्प्राप्ति कठिन है और इन्होंने तो पशु, वानर, रीछ और राक्षसी देहमें भगवत्प्राप्ति कर ली, तब ये क्यों न प्रशंसनीय हों? देखिये ब्रह्माजीने भी इनकी प्रशंसा की है। यथा—*'कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए॥ धिग जीवन देव सरीर हरे।'* (६। ११०) इसीसे इनके चरणोंको *'सुहाए'* कहा और इनकी वन्दना श्रीरामचन्द्रजीके भाइयों, उपासकों और मुनियोंके बीचमें की। पुनः (प्रोफे० श्रीलाला भगवानदीनजीके मतानुसार) *'सुहाए'* इससे कहा कि इन्होंने चरणद्वारा ही दौड़-धूप करके अधम शरीरसे ही श्रीरामकृपा सम्पादन की है, श्रीसीताजीकी खोजमें बहुत दौड़े हैं। जिस अङ्गद्वारा श्रीरामसेवा हो सके, वही सुहावन है अन्य असुहावन हैं। पुनः श्रीरामजीने भुशुण्डिजीसे कहा है—*'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥'* (७। ८६) ये सब वानर आदि भगवान्‌को अति प्रिय हैं। यथा—*'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।''''मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे।'* (७। ८) *'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥'* ''''(७। १६) अतएव *'सुहाए'* विशेषण उपयुक्त ही है। नहीं तो ब्रह्मा-समान भी कोई क्यों न हो वह प्रशंसायोग्य नहीं हो सकता। यथा—*'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥'* (७। ८६) *'रामबिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥'* (७। ९६)

नोट—२ *'अधम सरीर राम जिन्ह पाये'* इति। (क) *'अधम सरीर'* इति। पृथ्वी, जल, तेज, पवन और आकाश—इन पञ्चभूतोंसे बना हुआ होनेसे शरीरको अधम कहा जाता है। यथा—*'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥'* (४। ११) श्रीरामजीने वालीके मरनेपर तारासे ये वचन कहे हैं। इसके अनुसार पाञ्चभौतिक सभी शरीर 'अधम' हुए। उसपर भी वानर, रीछ और राक्षस-शरीर अधिक अधम हैं। इसीका लक्ष्य लेकर तो श्रीहनुमान्‌जीने अपना कार्पण्य दर्शाया है। यथा—*'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥ अस मैं अधम सखा सुनु'''' ॥'* (५। ७) पुनः, *'असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।'* (वि० १६६) एवं *'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर

पसु कपि अति कामी॥' (४। २१) इससे अधम कहा और राक्षस-शरीर तो सर्वतः तामसी ही होता है। (ख) *'अधम सरीर'''''पाये'* कहनेका भाव कि जीते-जी इन पापोंमें आसक्त पाञ्चभौतिक शरीरमें ही प्रभुकी साक्षात् प्राप्ति कर ली, दिव्य रूप पानेपर नहीं, न शरीर छूटनेपर परधाममें और न ध्यानादिद्वारा प्राप्त की; किन्तु इस स्थूल शरीरमें ही पा लिया। इस कथनसे यह भी जनाया कि अधम शरीर श्रीरामप्राप्तिका कारण प्रायः नहीं होता, पर इन सबोंको उसीसे रामप्राप्तिरूपी कार्य उत्पन्न हुआ है। अतः यहाँ 'चतुर्थ विभावना' अलङ्कार है। 'किसी घटनाके कारण कोई विलक्षण कल्पना की जाय तो उसे 'विभावना' अलङ्कार कहते हैं। 'चतुर्थ विभावना' का लक्षण यह है कि *'जाको कारण जो नहीं उपजत ताते तौन।'* (अ० मं०) (ग) *'अधम शरीर'* से प्राप्ति कहकर यह भी सूचित किया कि श्रीरामजीकी सेवासे अधमता जाती रहती है और सब लोग उनका आदर-सम्मान भी करने लगते हैं। यथा—*'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥'* (दोहावली १४२) *'बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी॥'* (विनय० १६६) *'कियेहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥'* (१। ७) (घ) *'पाये'* में यह भी भाव है कि शिवजीको भी जो ध्यानमें अगम हैं, वही प्रभु इनको साक्षात् आकर मिले।

नोट—३ ☞ यहाँ केवल पाँच नाम दिये। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअङ्गदजी। शेष समाजको 'आदि' में कहा। पाँचके नाम कहकर वन्दना करनेमें अभिप्राय यह है कि ये पाँचों प्रातःस्मरणीय कहे गये हैं। यथा—ब्रह्मयामलग्रन्थ, **'श्रीरामं च हनूमन्तं सुग्रीवं च विभीषणम्। अङ्गदं जाम्बवन्तं च स्मृत्वा पापैः प्रमुच्यते॥'** (पं० रामकुमारजी) देखिये, श्रीरामजीकी सेवाका यह फल है कि वही अधम जिनका प्रातःस्मरण अशुभ समझा जाता था वे ही प्रातःस्मरणीय हो गये, श्रीरामजीके साथ ही उनका स्मरण भी होने लगा। इतना ही नहीं वे *'तरन-तारन'* हो गये। यथा—*'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥'* (६। १०६) यह श्रीमुखवचन है।

रघुपति-चरन-उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ ३॥
बंदौं पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥ ४॥

शब्दार्थ—**उपासक**=(उप+आसक)=समीप बैठनेवाला, सेवा, पूजा या आराधना करनेवाला; भक्त। **जेते**=जितने। **समेते**=समेत, सहित। **सरोज**=कमल। **मृग**=पशु, हिरन, सूकर, बन्दर आदि। सभी पशुओंकी 'मृग' संज्ञा है। यथा—*'चलेउ बराह मरुतगति भाजी।''''''प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा।'* (१। १५७) *'साखामृग कै बड़ि मनुसाई।'* (५। ३३) **'पशवोऽपि मृगाः।'** (अमरकोष ३। ३। २०) **बिनु काम**=बिना किसी कामनाके; स्वार्थरहित; निष्काम। **चेरे**=गुलाम; मोल लिये हुए दास।

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुरोंसमेत जितने भी श्रीरामजीके चरणोंके उपासक हैं॥ ३॥ मैं उन सबके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जो श्रीरामजीके निष्काम सेवक हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ वन्दनाका क्रम—(क) उपासनाका फल श्रीरामजीकी प्राप्ति है। श्रीसुग्रीवजी आदिको श्रीराम-प्राप्ति हो चुकी, वे नित्य परिकरोंमें सम्मिलित हो चुके; इससे वे उपासकोंसे श्रेष्ठ हैं। इसीलिये श्रीसुग्रीवादिके पीछे अब रघुपतिचरणोपासकोंकी वन्दना की गयी। (ख) यहाँसे वन्दनाकी कोटि बदल रहे हैं। ऊपर *'बंदउँ प्रथम भरतके चरना'* से लेकर *'बंदउँ सबके चरन सुहाए।''''''* तक एक-से-एक लघु कहते गये। अर्थात् श्रीभरतजीसे छोटे लक्ष्मणजी, इनसे छोटे शत्रुघ्नजी, तब उनसे छोटे श्रीहनुमान्‌जी आदि क्रमसे कहे गये। अब *'रघुपति चरन उपासक जेते'* से *'बंदउँ नाम राम रघुबर को।'* तक एक-से-एक बड़ा कहते हैं। उपासकोंसे ज्ञानी भक्त बड़े, उनसे श्रीजानकीजी बड़ी, फिर श्रीरामजी और इनसे भी बड़ा इनका नाम है। (ग) शङ्का—'पूर्व एक बार सुर-नर-असुरकी वन्दना कर चुके हैं। यथा—*'देव दनुज नर नाग खग*

प्रेत पितर गंधर्ब। बंदौं किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥' (१। ७) अब यहाँ फिर दुबारा वन्दना क्यों की गयी?' इसका उत्तर यह है कि पहले उनकी वन्दना जीवकोटिमें की गयी थी और अब उपासककोटिमें मानकर उनकी वन्दना करते हैं। [अथवा, पहले सबकी वन्दना थी, अब उनमेंसे जितने 'रघुपतिचरण-उपासक' हैं केवल उन्हींकी वन्दना है। (पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी)](घ) यहाँ श्रीरामोपासकोंकी समष्टि (यकजाई, एकत्रित) वन्दना है। *'नर खग मृगसे'* मर्त्य (भू) लोक, *'सुर'* से स्वर्गलोक और *'असुर'* से पाताललोकके, इस तरह तीनों लोकोंके उपासक सूचित किये हैं।

नोट—१ *'खग मृग सुर नर असुर समेते'* इति। (क) पं० शिवलाल पाठकजीके मतानुसार यहाँ *'खग मृग'* से *'चित्रकूटके बिहंग मृग'* का ग्रहण होगा जिनके विषयमें कहा है—*'चित्रकूटके बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति। पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिनराति॥'* (२। १३८),*'नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥'* पर यहाँ *'रघुपति चरन उपासक'* जो खगादिका विशेषण है वह विचारने-योग्य है। जितने भी खग-मृगादि *'रघुपति राम'* के उपासक हैं उन्हींकी यहाँ वन्दना है। *'खग'* से श्रीकाकभुशुण्डिजी, श्रीगरुड़जी, श्रीजटायुजी आदि पक्षी उपासक लिये जा सकते हैं। *'मृग'* से बैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी वानर-भालुको लेते हैं और लाला भगवानदीनजी 'मारीच' को लेते हैं। *'सुर'* से दीनजी 'इन्द्रावतारी बाली' को और बैजनाथजी अग्नि और इन्द्र आदिको लेते हैं। *'सुर'* से बृहस्पतिजीको भी ले सकते हैं। इन्होंने इन्द्रादि देवताओंको बार-बार उपदेश दिया है, श्रीभरतजीकी भक्ति और श्रीरामजीके गुण और स्वभावका स्मरण कराया है। *'नर'* से अनेक नरतनधारी भक्त मनु-शतरूपा आदि, अवधवासी, मिथिलावासी, चित्रकूटादिवासी, कोल-भील, निषाद आदि कह दिये। *'असुर'* से प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर आदि लिये जा सकते हैं। दीनजीके मतानुसार *'असुर'* से 'खर-दूषणादि' चौदह हजार सेनाकी ओर लक्ष्य करके गोस्वामीजीने यह बात लिखी है।'

नोट—२ लाला भगवानदीनजी—'खग-मृगके चरणोंको *'सरोज'* कहना कहाँतक ठीक है?' ठीक है; क्योंकि जो भी जीव, चाहे वह पशु-पक्षी कोई भी क्यों न हो, श्रीरामजीकी अकाम भक्ति करेगा वह रामाकार हो जायगा। श्रीरामजीका लोक और सारूप्य मुक्ति पायेगा। रामरूप हो जानेसे उसके भी चरण श्रीरामचरणसमान हो जायँगे। अतः *'सरोज'* विशेषण उपयुक्त ही है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥ ५॥
प्रनवौं सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥ ६॥

शब्दार्थ—**बिग्यान**=वह अवस्था जिसमें आत्मवृत्ति परमात्मामें लीन हो जाती है, सबमें समता भाव हो जाता है, तीनों गुणों, तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीयावस्था आ जाती है, जीव परमानन्दमें मग्न रहता है, जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन रहता है, सारा जगत् ब्रह्ममय दिखायी देता है। **बिसारद** (विशारद)=प्रवीण, चतुर। जन=दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमारजी और श्रीनारदमुनि आदि भक्त जो मुनियोंमें श्रेष्ठ और विज्ञानमें प्रवीण हैं॥ ५॥ उन सबोंको मैं पृथ्वीपर सिर रखकर प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरो! आप सब मुझे अपना दास जानकर मुझपर कृपा कीजिये॥ ६॥

नोट—१ *'भगत', 'मुनिबर'* और *'बिग्यान बिसारद'* ये 'शुक-सनकादि-नारदमुनि प्रभृति' सबके विशेषण हैं। *'भगत'* विशेषण देकर इनको **'सोऽहमस्मि','अहं ब्रह्मास्मि'** आदिवाले रूखे विज्ञानियोंसे पृथक् किया।

नोट—२ 'श्रीशुकदेवजी' इति। ये भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीके पुत्र हैं। पूर्वजन्ममें ये शुक पक्षी थे। भगवान् शङ्करने जब परम गोप्य अमरकथा श्रीपार्वतीजीसे कही तब इन्होंने उसे सुनी जिससे ये अमर हो गये। ये जन्मते ही सीधे वनको चल दिये, माता-पिताकी ओर इन्होंने देखा भी नहीं। वर्णाश्रमचिह्नोंसे रहित, आत्मलाभसे सन्तुष्ट, दिगम्बर अवधूतवेष, सुकुमार अङ्गोंवाले, आजानुबाहु, तेजस्वी, अव्यक्तगति, निरन्तर वनमें रहनेवाले और सदा षोडशवर्षके श्यामल परम सुन्दर युवा अवस्थामें रहनेवाले परम निरपेक्ष थे। ऐसे विशुद्ध

विज्ञानी आत्माराम होनेपर भी ये परम भक्त थे। श्रीमद्भागवतके '**अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥**' (भा० ३। २। २३) इस श्लोकको वनमें अगस्त्यजीके शिष्योंको गाते सुनकर उनके मन और मति हर गये। तब पता लगनेपर कि श्रीव्यासजीने ऐसा ही बहुत-सा भगवद्यश रचा है वे पिताके पास आये और उनसे भागवत पढ़ी। यही फिर उन्होंने श्रीपरीक्षित् महाराजको उनके अन्त समयमें सुनायी थी। ज्ञानकी दीक्षाके लिये व्यासजी और देवगुरुने इनको श्रीजनकमहाराजके पास भेजा था। 'रम्भाशुक-संवाद' से ज्ञात होता है कि रम्भाने आपको कितनी ही युक्तियोंसे रिझाना और आपका तप भङ्ग करना चाहा था, परन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। दोनोंका संवाद देखनेयोग्य है। आप सबको भगवन्मय वा भगवद्रूप ही देखते थे, सदा भगवद्रूपामृतमें छके उसीमें मग्न रहते थे। देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि सब आपको देखकर आसनोंसे उठ खड़े होते थे, आप ऐसे परम तेजस्वी थे। यथा—'**प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः॥**' (भा० १। १९। २८)

नोट—३ '**श्रीसनकादिजी**' इति। ये भगवान्‌के चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। विविध लोकोंकी रचना करनेके लिये जब ब्रह्माजीने घोर तप किया तब उनके तपसे प्रसन्न हो 'सन' शब्दसे युक्त नामोंवाले चार तपस्वियोंके रूपमें भगवान् ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र होकर प्रकट हुए। श्रीसनक, श्रीसनन्दन, श्रीसनातन और श्रीसनत्कुमार इनके नाम हैं। इन्होंने पूर्व कल्पके प्रलयकालमें नष्ट हुए आत्मतत्त्वका ऐसा सुन्दर उपदेश दिया कि उसे सुनते ही मुनियोंने अपने हृदयमें उस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया। यद्यपि ये मरीचि आदि मानसपुत्रोंके भी पूर्वज हैं तो भी ये पाँच-छः वर्षके बालकोंके समान ही देख पड़ते हैं। यथा—'*देखत बालक बहु कालीना*', **पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।**' (भा० ७। १। ३६) ये सदा दिगम्बर वेषमें (नङ्गे) रहते हैं। सम्पूर्ण लोकोंकी आसक्तिको त्यागकर आकाशमार्गसे समस्त लोकोंमें स्वच्छन्दरूपसे विचरा करते हैं। इन सबोंको स्वतः विज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी। वे मात्सर्य आदि दोषोंसे रहित और वीतराग थे। इसीसे उनके मनमें पुत्रोत्पन्न करने, सृष्टि रचनेकी इच्छा न हुई।

नोट—४ '*जे मुनिवर बिग्यान बिसारद*' इति। आत्मतत्त्वका ज्ञान इन्हींसे और सब मुनियोंको प्राप्त हुआ और सब मुनि इनको अपनेसे बड़ा जानते-मानते हैं। अतः '*मुनिवर*' और '*बिग्यान बिसारद*' कहा। '*बिग्यान बिसारद*' कहकर इनको 'ज्ञानी भक्त' सूचित किया।

नोट—५ श्रीसनकादि तो सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम ब्रह्माजीके मानसपुत्र हुए तब शुकदेवजीको उनके पहले लिखनेका क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि—(क) जब कई व्यक्तियोंकी वन्दना एक साथ ही करनी है तब कोई-न-कोई तो पहले अवश्य ही रहेगा, सबमें ऐसी ही शङ्का की जा सकेगी, वैसे ही यहाँ भी जानिये। (ख) काव्यमें छन्द जहाँ जैसा ठीक बैठे वैसी ही शब्दोंकी स्थिति रखी जाती है। (ग) प्रायः यह नियम है कि छोटा शब्द प्रथम रखा जाता है, तब बड़ा। 'शुक' छोटा है। अतः इसे प्रथम रखा। अथवा (घ) यद्यपि श्रीसनकादिजी ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र हैं, सनातन हैं, आदि वैराग्यवान् हैं, वैराग्यके जहाँ बीजमन्त्र दिये हैं वहाँ इनका नाम प्रथम है, क्योंकि ब्रह्माजीने इन्हें जैसे ही सृष्टि-रचना करनेकी आज्ञा दी, इन्होंने उनसे प्रश्न-पर-प्रश्नकर उन्हें निरुत्तर कर उनकी आज्ञा न मान वनकी राह ली। तथापि श्रीशुकदेवजी तो गर्भसे निकलते ही वनको चलते हुए। ये तो ऐसे वैराग्यवान् और विज्ञानी थे कि जब व्यासजी आपके मोहमें रोते हुए पीछे चले तो आपने वनके वृक्षोंमें प्रवेशकर वृक्षोंसे ही कहलाया कि '**शुकोऽहम्।**' अतः विशेष विज्ञानी और वैराग्यवान् होनेसे इनको प्रथम कहा। पुनः, (ङ) श्रीसनकादि मायाके भयसे पाँच वर्षके बालककी अवस्थामें रहते हैं। यथा—'......**चतुरः कुमारान्वृद्धान्दर्शवयसो विदितात्मतत्त्वान्।**' (भा० ३। १५। ३०) तो भी इनपर मायाका प्रभाव पड़ा कि इन्होंने परम सात्त्विक वैकुण्ठलोकमें भी जाकर जय-विजयको शाप दे दिया। और श्रीशुकदेवजी तो जन्मसे ही सोलह वर्षकी यौवनावस्थामें रहते हैं। यथा—'**तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद०**' (भा० १। १९। २६) तो भी उनमें मायाका कोई विकार नहीं आया। पुनः, (च) बड़प्पन विज्ञान, तेज और भगवदनुरागसे होता है, कालीनतासे नहीं।

वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी, अगस्त्यजी और अनेक देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि आदि परीक्षित्‌जीके अन्त समय उपस्थित थे, सभीने परमहंस शुकदेवजीके आते ही अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनका सम्मान किया था।

टिप्पणी—१ *'प्रनवौं सबहि धरनि धरि सीसा।......'* इति। (क) ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं। यथा—*'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा।'* (१। २२) ये सब ज्ञानी भक्त हैं। इसीलिये इनको विशेषभावसे, अर्थात् पृथ्वीपर सिर धरकर प्रणाम किया है। (ख) *'जन जानि'* इति। अर्थात् मैं आपको प्रभुका दास समझकर आपके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। मैं प्रभुके दासोंका दास हूँ, अतएव आपका भी दास हूँ ऐसा समझकर आप मुझपर कृपा करें। पुनः, आप बड़े-से-बड़े मुनीश्वर हैं। बड़े छोटोंपर कृपा करते ही हैं। यथा— *'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'* (१। १६७) अतएव आप मुझपर कृपा करें।

टिप्पणी—२ यहाँतक छः अर्धालियोंमें गोस्वामीजीने कर्म, उपासना और ज्ञान, वन्दनाकी ये तीन कोटियाँ दीं। श्रीसुग्रीव आदिने अधम शरीरसे श्रीरामजीकी प्राप्ति की, यह कर्मका फल है। इस फलसे श्रीरामजी मिले। इस तरह *'कपिपति रीछ निसाचर राजा।......'* में कर्मकोटिकी वन्दना है। *'रघुपतिचरन उपासक जेते।......'* में उपासनाकोटिकी और यहाँ *'सुक सनकादि......'* में ज्ञानकोटिकी वन्दना है।

टिप्पणी—३ गोस्वामीजीने वानरोंके पीछे रामोपासक मुनियोंकी वन्दना करके तब श्रीसीतारामजीकी वन्दना की है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि बन्दरोंके पीछे श्रीसीतारामजीकी वन्दना अयोग्य थी और मुनियोंके पीछे योग्य है, नहीं तो ज्ञानी भक्तोंकी वन्दना खग-मृग-उपासकोंके पहले करते। अथवा अधम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करके अब उत्तम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करते हैं।

नोट—पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि ''ऊपर नित्य परिकरोंकी और आगे श्रीसीतारामजीकी वन्दना है। बीचमें इन मुनियोंकी दो अर्द्धालियोंमें वन्दना है, यह तो वाल्मीकि आदिके साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करनेमें एक रहस्य है और वह है ग्रन्थके तात्पर्य निर्णयकी विधि जो उपक्रम, उपसंहार आदि छः लिंगोंके द्वारा होता है। इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है, क्योंकि श्रीसीतारामजीकी वन्दना अब प्रारम्भ होगी, जो ग्रन्थके प्रतिपाद्य हैं। उपक्रममें पूर्व ही यह *'सुक सनकादि......'* की चौपाई वन्दनाक्रमसे भिन्न रखी गयी है। ऐसेही इस ग्रंथके उपसंहारपर जहाँ गरुड़जीके सातो प्रश्न पूरे हुए, वहाँ भी *'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपदपंकज नेहा॥'* (उ० दो० १२१) है। बस, यहींसे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन प्रारम्भ हुआ। वहाँपर भी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल *'सिव अज'* दो नाम और जोड़ दिये गये हैं और यह चौपाई वहाँ भी इसी प्रकार प्रसंगसे अलग-सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ निवृत्तिपरक है; अतः, प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी; तब पंचायत होगी (इस पंचायतका वर्णन *'सत पंच चौपाईं मनोहर......'* पर होगा), इसलिये अपने निवृत्तिपक्षके दो सतपंच इन शुकसनकादिका यहाँ वरण किया कि आप लोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात् इस जनके यहाँ आवें और ग्रंथमें शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एवं विवेकी हैं, प्रतिपक्षीके पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सतपंच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपंच) रूपसे किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षोंके मान्य हैं।......''

इस उपर्युक्त उद्धरणमें पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है।' हमें इसपर विचार करना है। पंडितजीने अपने उपोद्घातमें तात्पर्यनिर्णयके प्रतिपादनमें अपने 'मानस सिद्धान्त विवरण' ग्रंथका हवाला दिया (निर्देश किया) है। मा० सि० वि० में उन्होंने उपोद्घातमें उपक्रमोपसंहार लिखा है और उसी ग्रंथमें आगे पाँचवें अध्यायमें तात्पर्यनिर्णयप्रकरणमें भी उपक्रम, उपसंहारका विस्तृत वर्णन किया है। उनमेंसे उपोद्घातमें जो उपक्रम प्रकरण है उसमें उन्होंने **'यत्पादप्लव......तितीर्षावताम्'** को उपक्रम बताया है और तात्पर्य निर्णयमें **'यत्सत्त्वाद......भ्रमः'** को उपक्रम बताया है तथा उपसंहार भी यथा क्रमशः **'श्रीमद्राम......तुलसी'** और **'श्रीमद्रामचरित्र......मानवाः'** कहा है। मा० सि० वि० में दिये हुए दोनों स्थानोंके उपक्रमके विषयमें और जो कुछ भी लिखा है उसके सम्बन्धमें हमें इस समय कहनेका प्रसंग

न होनेसे, कुछ नहीं लिखना है। उसमेंसे हमें केवल इतना ही दिखाना है कि उन्होंने उपक्रम वस्तुतः किस जगह माना है। मा० सि० वि० का ही मत 'सिद्धान्त तिलक' के उपोद्घातमें निर्दिष्ट किया गया है। तब यहाँ जो उपक्रमोपसंहारके स्थान दूसरे ही बताये जा रहे हैं यह बात कुछ समझमें नहीं आती।

इस ग्रन्थमें बालकाण्डमें तीन वक्ताओंके द्वारा कथाका उपक्रम किया गया। जहाँ उपक्रम किया है वहाँ *'कहउँ', 'करउँ', 'बरनउँ'* आदि शब्द कथाके साथ आये हैं और गोस्वामीजीने तो कई बार प्रारम्भसे लेकर दोहा ४३ तक कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है, पर कथाका प्रधान उपक्रम तो ४३वाँ दोहा ही समझा जाता है। वहाँतक वन्दना, कुछ उपक्रमका अंश और कुछ मानसरूपक आदि प्रासंगिक विषय ही हैं। इस स्थलपर यदि *'कहउँ,* या *'करउँ'* ऐसा भी कहीं होता तो कदाचित् उपक्रमकी कल्पना की जा सकती थी। इसी प्रकार अन्तमें *'सिव अज सुक……'* इस चौपाईपर न तो उपसंहार है और न वह चौपाई असंगत ही है। क्योंकि वहाँ मानसरोगोंकी औषधिका वर्णन करते हुए अपने कथनको बड़े-बड़े महात्माओंकी सम्मति बताते हैं। उपसंहार तो इसके कई अर्धालियोंके पश्चात् *'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा'* से प्रारम्भ होता है। पञ्चायतके सम्बन्धमें उत्तरकाण्डमें ही लिख जायगा। यहाँ केवल इतना कहना है कि 'पक्षपाती' सत्पञ्च नहीं कहा जा सकता।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ ७॥

ता के जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥ ८॥

शब्दार्थ—अतिसय=अत्यन्त, बेहद। अतिसय प्रिय=प्रियतमा। मनावौं=मनाता हूँ। किसी कार्यके हो जानेके लिये वन्दना, स्तुति या प्रार्थना करना 'मनाना' कहलाता है; यथा—*'मनही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी॥'* (१। २५७) *'हृदय मनाव भोरु जनि होई। रामहि जाइ कहै जनि कोई॥'* (२। ३७) *करुनानिधान*=(करुणानिधान)=करुणाका सागर या खजाना=करुणासे परिपूर्ण हृदयवाला। मं० सो० ४ देखिये।

अर्थ—श्रीजनकमहाराजकी पुत्री, जगत्‌की माता, करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीकी (जो) अतिशय प्रिया श्रीजानकीजी (हैं)॥ ७॥ उनके दोनों चरणकमलोंको मैं मनाता हूँ, जिनकी कृपासे मैं निर्मल बुद्धि पाऊँ॥ ८॥

नोट—१ *'जनकसुता जगजननि……'* इति। इतने विशेषण देकर अम्बा श्रीजानकीजीकी वन्दना करनेके भाव—(क) उत्तमता या श्रेष्ठता चार प्रकारसे देखी जाती है। अर्थात् जन्मस्थान, सङ्ग, स्वभाव और तनसे। *'जनकसुता'* से जन्मस्थान, *'जगजननि'* से स्वभाव और तन तथा *'अतिसय प्रिय करुनानिधान'* से सङ्गकी श्रेष्ठता दिखायी। (पं० रामकुमार) श्रीजनकमहाराजकी श्रेष्ठता तो प्रसिद्ध ही है कि जिनके पास बड़े-बड़े विज्ञानी मुनि परमहंस ज्ञानकी दीक्षाके लिये आते थे। यथा—*'जासु ज्ञानरबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'* (२। २७७) *'ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरमधीर नरपाल।'* (२। २९१) वसिष्ठवाक्य। साधारण माताएँ किस प्रेमसे बच्चोंका पालन-पोषण करती हैं और जो जगन्मात्रकी माता है, अर्थात् जो ब्रह्मादि देवताओं, ऋषियों, मुनियों आदि श्रेष्ठ गुरुजनोंकी जननी है, उसके दयालु-स्वभाव और अतुलित छबिका वर्णन कौन कर सकता है? *'जगजननि'* यथा—*'आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला। जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥'* (१। १४८) *'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत॥'* (७। २४) करुणानिधान श्रीरामजीका सन्तत सङ्ग। इससे बढ़कर उत्तम सङ्ग और किसका हो सकता है कि जो अखिल ब्रह्माण्डोंका एकमात्र स्वामी है और *'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'* उनका प्रेम आपपर कैसा है यह उन्हींके वचनोंमें सुनिये और समझिये। *'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥'* (५। १५) वा, (ख) इन विशेषणोंसे माता-पिताके कुल, पतिके कुल और पतिकी श्रेष्ठता दिखायी। अयोध्याकाण्डमें श्रीनिषादराजने तथा श्रीभरतजीने

भी इसी प्रकार आपकी श्रेष्ठता कही है। यथा—*'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो बैदेही।'* (२। ९१ निषादवाक्य), *'पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥ ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥ प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥ पतिदेवता सुतीयमनि सीय*......।' (२। २९९) (ग) सत्योपाख्यान तथा अद्भुत रामायणसे एवं उन बहुत-से प्रमाणोंसे जो 'सीता' शब्दपर मं० श्लो० ५में दिये गये हैं, स्पष्ट है कि श्रीजानकीजीकी उत्पत्ति हल चलानेपर पृथ्वीसे हुई, श्रीजनकजीसे उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। अतएव *'जनकसुता'* शब्दसे जनाया कि श्रीजनकजीके हेतु आपने सुता-सम्बन्ध स्वीकार किया, उनकी 'दृष्टिमें सुताभावको सिद्ध किया' और वस्तुत: हैं तो वे जगन्मात्रकी माता। जगत्का पालन-पोषण करती हैं तो भी कभी श्रीसाकेतबिहारीजीसे पृथक् नहीं होतीं, साकेत नित्य निकुञ्जमें महारासेश्वरी ही बनी रहीं। (सन्त श्रीगुरुसहायलालजी। मा० त० वि०) (घ) *'जनकसुता'* से उदारता, *'जगजननि'* से ग्रन्थकारने अपना सम्बन्ध और *'अतिशय......'* से अतिशय करुणायुक्ता जनाया। (रा० प्र०) (ङ) *'जनकसुता'* से माधुर्य, *'जगजननि'* से ऐश्वर्य और *'अतिसय......'* से पतिव्रताशिरोमणि जनाया। (च) *'जनकसुता' 'जगजननि'* और *'अतिसय......'* में अतिव्याप्ति है। अर्थात् इन शब्दोंको पृथक्-पृथक् लेनेसे और भी ऐसे हैं जिनमें ये विशेषण घटित होते हैं। जनक संज्ञा मिथिलाके सब राजवंशियोंकी है। इस प्रकार श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी और श्रीश्रुतिकीर्त्तिजी तथा श्रीसीताजी चारों 'जनकसुता' हैं। अतएव इस शब्दसे शङ्का होती कि न जाने किसकी वन्दना करते हैं। इससे *'जगजननि'* कहा। पर जगज्जननी भी और हैं। यथा—*'जगतजननि दामिनि दुति गाता॥'* (१। २३५) *'अतिसय प्रिय......'* भी और हैं। यथा—*'नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥'* (३। ३६) जब इन तीनोंको साथ लेंगे तब श्रीसीताजीको छोड़ और कोई नहीं समझा जा सकता। *'जानकी'* नाम देकर अन्य बहिनोंसे इनको पृथक् किया। (छ) बैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी *'जगजननि जानकी'* का अर्थ ऐसा भी करते हैं, 'जगत्की जननी एवं जान (जीवों) की जननी।' इस प्रकार श्रीरघुनाथजीसे अभेद सूचित किया; क्योंकि रघुनाथजी भी *'प्रान प्रान के जीवन जी के'* हैं। अर्थात् आह्लादिनी आदिशक्ति हैं। पंजाबीजी *'जनकसुता'* और *'जानकी'* में पुनरुक्ति समझकर *'जानकी'* का अर्थ 'ज्ञानकी' (जननी) करते हैं। (ज) *'जनकसुता'* आदिसे क्रमश: श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुतिकीर्त्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना की है। (मा० म०) विशेष अन्तिम नोटमें देखिये। [*'जनकसुता' 'जगजननि', 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की'* ये श्रीजानकीजीके विशेषण हैं, अत: जनकसुता और जानकीमें पुनरुक्ति नहीं है। ☞ स्मरण रहे कि विशिष्टवाचक (अर्थात् जिनमें कोई विशेष गुणधर्म कहा गया हो उन) पदोंका, उसी अर्थका बोधक विशेषण साथ रहनेपर, सामान्य विशेष्य ही अर्थ समझा जाता है। यथा—'**विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथग्विशेषणवाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्र परत्वम्**' (मुक्तावली दिनकरी टीकासे)। यहाँ *'जनकसुता'* और *'जानकी'* का अर्थ एक 'जनकपुत्री' होनेसे *'जानकी'* विशेष्यका अर्थ 'जनकको लड़की' नहीं किया जायगा; किन्तु *'जानकी'* नामवाली ऐसा अर्थ होगा। *'जानकी'* नाम है। अत: पुनरुक्ति नहीं है।]

नोट—२ वे० भू० पं० रा० कु० दासजी—श्रीरामजीने तो जनरक्षणमें वेदकी मर्यादाको भी एक तरफ रख दिया। नित्यधामयात्राके समय परम आनन्दोल्लासके साथ समस्त परिजन-पुरजन ही नहीं वरञ्च कीटपतङ्गादितकको साथ ले जाना अन्य किस अवतारमें हुआ है? परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो कृपालुता और वात्सल्यमें श्रीरामजी माता श्रीजानकीजीसे पीछे पड़ जाते हैं। श्रीजानकीजीके द्वारा जीवोंपर होनेवाले उपकार अपरिमित और अनन्त हैं, तभी गोस्वामीजी आपको *'जगजननि'* कहते हैं। आप कृपालुताकी तो मूर्ति ही हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि पिताके हृदयमें पुत्रके प्रति हितकरत्व गुणकी विशेषता रहती

है और माताके हृदयमें प्रियकरत्व गुणकी। पिता पुत्रके हितार्थ दण्डकी व्यवस्था करता है। परन्तु माता तो सर्वदा पुत्रके प्रिय कर्ममें ही लगी रहती है, उसके हृदयमें सदा प्रियकरत्व गुण ही उल्लसित होता रहता है। जब कभी पिता सन्तानको शिक्षणके लिये दण्ड देना चाहता है तब पुत्र यदि छिपा चाहे तो माता उसे अपने अञ्चलमें छिपा लेती है और फिर नाना युक्तियोंसे पतिको समझा-बुझा अपराध क्षमा कराकर पुत्रको दण्डसे बचा लेती है। इसी प्रकार अनेकों अपराध करनेवाले जीवोंका भविष्य उज्ज्वल करनेकी इच्छासे दण्डित करनेके लिये जब अपने ऐश्वर्यका स्मरण करके भगवान् यह निर्णय करते हैं कि '**तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥**' (गीता १६। १९) अर्थात् उन क्रूर दुष्ट द्वेषियोंको मैं संसारकी आसुरी योनियोंमें डाल देता हूँ') उस समय उक्त अपराधी जीवोंमेंसे माताके अञ्चलमें छिपनेकी इच्छा रखनेवाले पुत्र (शरणागत जीव) की रक्षाके लिये आप भगवान्से प्रार्थना करती हैं। परन्तु जब भगवान् रूखा उत्तर दे देते हैं कि '**न क्षमामि कदाचन**' मैं कदापि नहीं क्षमा करूँगा तब जगदम्बाजी मीठे-मीठे शब्दोंमें उसकी सिफ़ारिश करती हैं। कहती हैं कि यदि आप इस जीवपर शरणागत होनेपर कृपा न करेंगे और दण्ड ही देंगे तो आपके क्षमा, दया आदि दिव्य गुणोंपर पानी फिरते कितनी देर लगेगी? अतः इसपर कृपा करनेमें ही आपके दिव्यगुणोंकी रक्षा है। इस प्रकार दिव्य गुणोंका स्मरण कराकर और भगवान्‌को माधुर्यकी ओर आकर्षित तथा जीवमात्रको सापराध बताकर एवं अन्य भी उपायोंद्वारा जीवको दण्डसे बचा लेती हैं और उसे दिव्य आनन्दका भोक्ता बना देती हैं। इसी तथ्यको श्रीगुणमञ्जरीकारने अपनी सजीव भाषामें इस तरह वर्णन किया है। '**पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने हितस्रोतो वृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः। किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितैरुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥**' यह तो हुआ आपके अहर्निश जीवोंके कल्याण करते रहनेके 'जगज्जननीत्व' कर्मका दिग्दर्शनमात्र। श्रीजगज्जननीजीके इस शरणागतरक्षकत्वका क्रियात्मक प्रौढ़रूपमें उदाहरण श्रीजनकसुता जानकीरूपमें ही पाया जाता है, अन्य रूपोंमें नहीं। देखिये, जयन्त *'सीता चरन चोंच हति भागा।'* फिर भी भगवान्‌के पूछनेपर कि '**कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना**' आपने इस विचारसे न बताया कि उसको दण्ड मिलेगा। शरण आनेपर भी वह प्रभुके आगे जब गिरा तब पैर उसके प्रभुकी ओर पड़े। इससे पहले ही कि प्रभु उसकी बेअदबी (अशिष्टता) को देखें। उसके प्राण बचानेके लिये '**तस्य प्राण परीप्सया**' स्वयं उसके सिरको उठाकर प्रभुके चरणोंपर डालकर उसकी सिफ़ारिश की कि यह शरणमें आया है इसकी रक्षा कीजिये। यथा—'**तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी। प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्॥ त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्॥''''तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषसागरः। ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत॥**' पुनः जैसे कुएँमें बच्चेके गिरनेपर माता उसे निकालनेके लिये स्वयं कूद पड़ती है उसी तरह जगज्जननीने देवाङ्गनाओंसहित देवताओंको रावणबन्दीगृहमें पड़े देख उनको निकालनेके लिये स्वयं भी बन्दिनी होना स्वीकार किया और जबतक रावणका नाश कराकर उनको छुड़ा न दिया तबतक (हनुमान्‌जीके साथ भी) लौटना स्वीकार न किया (वाल्मीकीयसे स्पष्ट है)। जिन राक्षसियोंने आपको रावणवधके समयतक बराबर सताया उनकी भी (बिना उनके शरणमें आये स्वयं) हनुमान्‌जीसे रक्षा की। इसीसे तो आपकी कृपा श्रीरामजीसे बढ़कर कही गयी है। श्रीगुणमञ्जरीकारने क्या खूब कहा है। '**मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥**' [सुन्दरकाण्ड और विनय-पीयूषमें विस्तृत लेख दिया जा चुका है।] जगज्जननित्वका उदाहरण और कहाँ मिल सकता है?

नोट—३ *'अतिसय प्रिय करुनानिधान की'* इति। प्रोफेसर दीनजी लिखते हैं कि 'सत्सङ्गमें सन्तोंसे सुना है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको 'करुणानिधान' नामसे ही सम्बोधन किया करती थीं, जैसे अब

भी स्त्रियाँ अपने पतिको किसी खास नामसे पुकारती हैं। इसका प्रमाण सुन्दरकाण्डमें मिलता है। श्रीहनुमान्‌जी अनेक प्रकारसे अपना रामदूत होना प्रमाणित करते हैं, पर श्रीसीताजी विश्वास नहीं करतीं। श्रीरामजीके बतलानेके अनुसार जब हनुमान्‌जी कहते हैं कि *'सत्य सपथ करुनानिधान की',* तब वे झट उनपर विश्वास करके उन्हें रामदूत मान लेती हैं। आगे महात्मालोग जानें। श्रीरूपकलाजी भी यही कहते थे।

नोट—४ *'जुगपद'* मनानेका एक भाव यह है कि—(क) जैसे बालक माँके दोनों पैर पकड़कर अड़ जाता है, माँको टलने नहीं देता, वैसे ही मैं अड़ा हूँ जिससे मुझे निर्मल मति मिले। यथा—*'हौं माचला लै छाड़िहौं, जेहि लागि अर्‌यो हौं।'* (विनय० २६७) पुनः (ख) प्रोफे० दीनजीका मत है कि *'पद मनावउँ'* कहनेसे ही काम चल जाता। *'जुगपद'* कहनेका विशेष भाव यह है कि श्रीरामजीका पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य जतानेकी अधिकारिणी श्रीजानकीजी ही हैं। यह ऐश्वर्य और माधुर्य श्रीरामजीके ४८ चरणचिह्नोंके ध्यानसे जाना जा सकता है। वही ४८ चिह्न श्रीजानकीजीके चरणोंमें भी हैं। माताके चरणदर्शनका मौका बालकको अधिक मिलता है। अतः गोस्वामीजी माताजीके युगचरण मनाकर ही अपनी बुद्धि निर्मल करके श्रीरामजीका पूर्ण प्रभाव जाननेकी इच्छा करते हैं। अतः *'युग पद'* कहा। बिना दोनों पदोंके ध्यानके पूर्ण ऐश्वर्यका ज्ञान न हो सकेगा, अतः—'युग' शब्द रखना यहाँ अत्यन्त आवश्यक था।

नोट—५ *'जासु कृपा निर्मल मति पावउँ'* इति। इससे जनाया कि जिन-जिनकी अबतक वन्दना करते आये वे श्रीरामजीके चरितके विशेष मर्मज्ञ नहीं हैं और श्रीरामवल्लभाजी रहस्यकी विशेष मर्मज्ञा हैं, क्योंकि वस्तुतः तत्त्वतः श्रीराम-जानकी दोनों एक ही हैं, दो नहीं, जैसा आगे कहते हैं अतः इनसे 'निर्मल बुद्धि, माँगते हैं। पुनः, श्रीरामचरित विशद हैं, अतः उनका कथन बिना निर्मल मतिके हो नहीं सकता। यथा—*'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि।'* (१।१४) औरोंसे भी मति माँगी, परन्तु मिली नहीं, अतः अब इनसे माँगते हैं। इससे वह बुद्धि मिल भी गयी, इसीसे अब चरित प्रारम्भ करेंगे।

नोट—६ *'बन्दे चारिउ भाइ, अन्त राम केहि हेतु भज? भगिनी चारि न गाइ, जो गाए तो अन्त किम्?'* पं० घनश्याम त्रिवेदीजी ये शङ्काएँ करके स्वयं ही यह उत्तर देते हैं—(१) श्रीसीतारामार्चामें पहले सब परिवारकी पूजा होती है। इसीके अनुसार यहाँ भी वन्दना की गयी है। इनके पीछे केवल नामवन्दना है जिसका भाव यह है कि और सबके पूजनका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति है जिसका फल श्रीसीतारामनाममें प्रेम होना है। पुनः, (२) श्रीसीतारामजीको एक साथ रखना आवश्यक था। यदि सब भाइयोंको साथ रखते तो इन दोनोंका साथ छूट जाता। पुनः, (३) लोकरीति भी यही है कि राजाके पास एका-एकी कोई नहीं पहुँचता, पहले औरोंका वसीला उठाना पड़ता है। अतएव इनकी वन्दना अन्तमें की गयी।

दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) लोकरीतिमें बड़ेके सामने बहूका नाम नहीं लेते हैं। इसीसे तीन बहिनोंके नाम प्रकटरूपसे नहीं दिये। (२) संकेतसे *'जनकसुता', 'जगजननि', 'जानकी'* और *'अतिसय प्रिय करुनानिधान की'* ये चार विशेषण देकर चारों बहिनों अर्थात् क्रमसे श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुतिकीर्त्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना सूचित कर दी। मा० अ० दीपकमें अन्तिम भाव इन शब्दोंमें दिया हुआ है—*'जनकसुता जगजननि महँ जानकि लालक राम। यह संदर्भ विचार बिनु लहत न मन सुख धाम॥'* (३०) श्रीभरतजीके सम्बन्धमें कहा है कि *'बिस्व भरन पोषन कर जोई'* इसी भावको लेकर *'जगजननि'* से श्रीमाण्डवीजीको लेते हैं। मयङ्ककार कहते हैं कि मिथिलाराजवंशियोंकी 'जनक' संज्ञा है और 'जानकी' का अर्थ भी है जनकपुत्री। भरतजीका ब्याह माण्डवीजीसे हुआ और शत्रुघ्नजीका श्रुतिकीर्त्तिजीसे अतः *'जगजननि'* से जब माण्डवीजीका ग्रहण हुआ तो *'जानकी'* से श्रीश्रुतिकीर्त्तिजीका ग्रहण हुआ। जनक (शीरध्वज) राजा बड़े भाई हैं और श्रीउर्मिलाजी उनकी पुत्री हैं, अतः *'जनकसुता'* से राजा जनकको पुत्री उर्मिलाजीका ग्रहण हुआ।

नोट—७ मेरी समझमें यहाँ केवल श्रीसीताजीकी वन्दना है। बहनोंकी वन्दना क्लिष्ट कल्पना है। *'ताके'* एकवचन है न कि बहुवचन। *'जासु'* भी एकवचन है।

प्रथम संस्करणके मेरे इस नोटपर श्रीजानकीशरणजीने मानसमार्तण्डमें लिखा है कि 'परन्तु क्या जहाँ उस आनन्दमय महोत्सव, जहाँ सब नर तथा नारी उपस्थित हैं, तहाँ ये तीनों बहुएँ न हों, यह परमाश्चर्य अवश्य है। हाँ! परदेके अन्दर विराजमान हैं। तहाँ गोस्वामीजी इन तीनों देवियोंको प्रणाम करनेमें चूकें? इसी कारण श्रीसीतामहारानीकी वन्दनामें संकेतसे चार विशेषण देकर चारोंकी वन्दना सूचित कर दिये हैं। केवल एकवचन और बहुवचनके झगड़ेमें पड़कर भावपर ध्यान नहीं देना भावुकतासे बाहर है। मानसमें एक नहीं, अनेक स्थानोंमें व्याकरणादिकी गलतियाँ हैं जिनको यह कहकर समाधान कर दिया है कि 'आर्षकाव्यमें इसका दोष नहीं देखा जाता है।'''''यहाँ क्यों नहीं उसी प्रकारका समाधान मानकर परमोत्तम सिद्धान्त तथा रहस्यपूरित भावको जानकर प्रसन्न होते?''''''

नोट—८ यही शङ्का मानसमणि ३ आलोक ३ में एक जिज्ञासुने की थी। उसका उत्तर वेदान्तभूषणजीने दिया है। वह हम यहाँ उद्धृत करते हैं। 'श्रीगोस्वामीजीने वैसे तो समष्टिरूपसे एवं वर्गीकरण करके भी सभी चराचरमात्रकी वन्दना मानसमें की है; परन्तु अलग-अलग नाम लेकर तो उन्हीं व्यक्तियोंकी वन्दना की है जिन्होंने श्रीरामजीके चरित्रोंमें कुछ भी, किसी तरहका भी भाग लिया है। व्यास, शुक, सनकादि, नारदादि किंवा विधि, विनायक, हर, गौरी, सरस्वती आदि श्रीरामचरित्रके पात्र ही हैं, उनके बिना तो रामचरित्र ही अधूरा रह जाता है और श्रीमाण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतिकीर्त्तिजीका किसी प्रकारका भी सहयोग श्रीरामचरित्रमें नहीं है। केवल श्रीरामचरित्रके विशेष-विशेष पात्र भरतादिके साथ विवाह होनेके कारण विवाहके समय उनका नाम एक बार मानसमें आ गया है। (यही क्या कम है?) गोस्वामीजीकी ही लेखनीसे लिखा गया है कि *'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥'* अतः श्रीरामजीकी लीलामें कुछ भी सहयोग न होनेसे गोस्वामीजीने उनका नाम लेकर स्वतन्त्ररूपसे उनकी वन्दना नहीं की। इस तथ्यका विचार किये बिना ही पण्डितमन्य लोग गोस्वामीजीपर तथा अन्य श्रीरामचरित्रके कवियोंपर श्रीउर्मिलादिकी उपेक्षाका दोष लगाया करते हैं।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि 'श्रीशत्रुघ्नजीकी वन्दना उनका नाम लेकर क्यों की, जब उनका मानसभरमें बोलनातक नहीं लिखा है?' ठीक है, परम सुशील श्रीशत्रुघ्नजीका बोलना श्रीरामचरितमानस-भरमें नहीं लिखा है; परन्तु *'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥'* के अतिरिक्त रामचरित्रमें रामसेवामें आपका पूर्ण सहयोग रहा है। देखिये, जब पता चला कि *'रामराज्य बाधक भई मूढ़ मंथरा चेरि'* तब उसे देखते ही आपने दण्ड देना शुरू किया—*'हुमकि लात तकि कूबर मारा','लगे घसीटन धरि धरि झोटी'।* चित्रकूटके मार्गमें भरतजीने *'भाइहि सौंपि मातु सेवकाई'।* स्वयं श्रीरामजीने ही चित्रकूटमें *'सिय समीप राखे रिपुदवनू'।* फिर श्रीसीतारामजीके सिंहासनारूढ़ होनेपर श्रीशत्रुघ्नजी व्यजन लिये सेवामें प्रस्तुत थे। और सतत काल *'सेवहिं सानुकूल सब भाई'।* अतः श्रीशत्रुघ्नजीका सहयोग श्रीरामचरितमें पूर्णरूपेण है। इसीलिये उनका नाम लेकर स्वतन्त्र वन्दना की है। हाँ, वह सहयोग सर्वत्र मौनरूपसे ही है, बोलते हुए नहीं है। इसीसे एक ही पंक्तिमें इनकी वन्दना है।

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥ ९॥
राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपतिभंजन सुखदायक॥ १०॥

अर्थ—अब मैं फिर मन-वचन-कर्मसे कमलनयन, धनुषबाणधारी, भक्तोंके दुःखके नाशक और सुखके देनेवाले श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो सब योग्य हैं, सर्वसमर्थ हैं॥ ९-१०॥

नोट—१ *'पुनि मन बचन कर्म'* इति। (क) *'पुनि'* अर्थात् श्रीजानकीजीकी वन्दनाके पश्चात् अब अथवा एक बार पूर्व मङ्गलाचरणमें वन्दना कर चुके हैं— **'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।'** अब फिर करता हूँ। (ख) मन-वचन-कर्म तीनोंसे वन्दना करना यह कि मनसे रूपका ध्यान, वचनसे नाम-यश-कीर्तन और कर्म (तन) से सेवा, पूजा, दण्डवत्-प्रणाम, परिक्रमा आदि करते हुए इस तरह तीनोंको प्रभुमें लगाये हुए। चरणोंका ध्यान, चिह्नोंका चिन्तन, उनका महत्त्व गाते हुए, हाथोंसे मानसी सेवा करते हुए।

नोट—२ *'सब लायक'* इति। अर्थात् (क) सब मनोरथों और अर्थ-धर्मादि समस्त पदार्थों और फलोंके देनेवाले हैं। यथा—*'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥'* (१। १४९) *'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं।'* (१।३२४) (ख) इनके स्मरणसे मन निर्मल हो जाता है, जीव परमपदको भी प्राप्त होता है। यथा—*'जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं।', 'जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई।'* (१। ३२४) *'परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परमपद के अधिकारी।'* (२। १३९) (ग) दीन गरीब केवट-कोल-भील आदिसे लेकर विधि-हरि-हर ऐसे समर्थोंके भी सेवने योग्य हैं। यथा—*'जासु चरन अज सिव अनुरागी।'* (७। १०६) *'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥ सेवत सुलभ सकल सुखदायक।'* (१। १४६) *'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन।'* (२। १३६) (घ) सर्वसमर्थ हैं, आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। यथा—*'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥'* (३। ४२) *'मोरे नहिं अदेय कछु तोही॥'* (१।१४९) (ङ) सकल योग्यताके आधारभूत हैं, श्रीगणेशादि समस्त देवोंकी योग्यताके सम्पादक हैं। (रा० प्र०)

नोट—३ *'राजिवनयन धरें धनु सायक।''''''* इति। (क) प्रोफे० लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि इसमें *'राजिव'* शब्द बड़ा मजा दे रहा है। कमलवाची अन्य शब्द रखनेसे वह मजा न रहता। *'राजीव'* लाल कमलको कहते हैं। भक्तकी विपत्ति-भंजन करते समय जब धनुसायकसे काम लिया जायगा तब आरक्त नेत्र ही शोभाप्रद होंगे। वीरता, उदारताके समय लाल नेत्र और शृङ्गारमें नीलोपम नेत्र तथा शान्तरसमें पुण्डरीकाक्ष कहना साहित्यकी शोभा है। *'राजिवनयन'* का प्रयोग प्रायः ऐसे ही स्थानोंमें किया गया है जहाँ दुःखियोंके दुःखनिवारणका प्रसङ्ग है। यथा—*'राजीवबिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहि आई।'* (१। २११) *'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना॥'* (५।३२) *'अब सुनहु दीनदयाल। राजीव नयन बिसाल॥'* (६। ११२) इत्यादि। (ख) कमलमें कोमलता, शीतलता, सुगन्ध आदि गुण होते हैं वैसे ही श्रीरामनयनकमलमें उसी क्रमसे दयालुता, शान्ति (क्रोध न होना), सुशीलता (शरणागतके पापोंपर दृष्टि न डालना) इत्यादि श्रेष्ठ गुण हैं। (ग) बैजनाथजी कहते हैं कि *'राजीव'* से तेजोमय, कोटिसूर्य प्रकाशयुक्त और जगपालक गुण सूचित किये हैं। (घ) *'धरें धनु सायक'* इति। भगवान् श्रीरामका ध्यान सदैव धनुर्बाणयुक्त ही करनेका आदेश है। यथा—**'अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥ तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं''''''। कौशल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्। एवं सञ्चिन्तयेत्''''''।'** (श्रीरामस्तवराजस्तोत्र १०, २१-२२), **'ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले।' कौसल्यातनयं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्। ''''''ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थम्।'** (आ० रा० राज्यकाण्ड सर्ग-१। १०, २२, ३१) इससे जनाया कि श्रीरामजी भक्तोंकी रक्षामें इतने सावधान रहते हैं कि हरदम धनुर्बाण लिये रहते हैं जिसमें रक्षाके समय शस्त्रास्त्र ढूँढ़ना न पड़े जिससे विलम्ब हो। श्रीअग्रस्वामीने इसी भावसे लिखा है कि *'धनुष बाण धारे रहैं, सदा भगत के काज। अग्रसु एते जानियत राम गरीब निवाज॥ धनुष बाण धारे लखत दीनहि होत उछाह। टेढ़े सूधे सबनि को है हरि नाथ निबाह॥'* (१-२) अर्थात् सरल एवं कुटिल

सभी जीवोंका निर्वाह प्रभुकी शरणमें हो जाता है। (वे० भू०)। (ङ) *'भगत बिपति भंजन सुखदायक'* इति। विपत्तिके नाश होनेपर सुख होता है, अतः विपत्ति-भंजन कहकर सुखदायक कहा। अथवा, आर्त्त भक्तोंकी विपत्ति हरते हैं और साधक तथा ज्ञानी भक्तोंको सुख देते हैं, अर्थात् उनके हृदयमें आनन्द भर देते हैं। (वै०)

दो०—गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत[1] भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न॥ १८॥

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके चरणोंकी वन्दना करता हूँ जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और उसकी लहरके समान कहनेमें भिन्न हैं (पर वस्तुतः) भिन्न नहीं हैं और जिन्हें दीन अत्यन्त प्रिय हैं॥ १८॥

नोट १—यहाँपर *'गिरा'* से मध्यमा और वैखरी वाणीका ग्रहण है तथा अर्थसे बौद्ध (अर्थात् बुद्धिस्थ) और बाह्य अर्थोंका ग्रहण है। इन दोनोंका परस्पर वाचक-वाच्य-सम्बन्ध है। जिस शब्दसे जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह शब्द उस पदार्थका वाचक कहा जाता है। तथा जिस अर्थका ज्ञान होता है, वह वाच्य कहा जाता है। यथा, घटसे घड़ेका (अर्थात् मिट्टी, ताँबा, पीतल आदिका बना हुआ होता है जिसमें जल आदि भरते हैं उस पदार्थका) ज्ञान होता है। अतः 'घट' शब्द वाचक है और घड़ा (व्यक्ति) वाच्य है। इस वाणी और अर्थमें भेदाभेद माना जाता है। शब्द और अर्थमें भेद मानकर **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (योगसूत्र १। २७) अर्थात् ईश्वरवाचक प्रणव (ओंकार) है। **'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥'** (वसिष्ठसंहिता) अर्थात् श्रीरामजीका नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह है इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँपर ईश्वर (अर्थ) का वाचक ओंकार (शब्द) कहा गया है, इससे ईश्वर और ओंकार शब्दोंमें भेद स्पष्ट है। ऐसे ही दूसरे उदाहरणमें श्रीरामजी और उनके नाममें भी भेद स्पष्ट है।

एवं शब्दार्थमें अभेद मानकर ही **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्'** (गीता ८।१३) अर्थात् ओम् इस एकाक्षर ब्रह्मको कहते हुए, तथा **'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्ग पिनाकिनः'** अर्थात् राम (इत्याकारक) जो द्व्यक्षर नाम है वह परशुरामजीका मानभङ्ग करनेवाला है, इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँपर (उपर्युक्त प्रथम उदाहरण **'ओमित्येकाक्षरं……'** में) (शब्द) और ब्रह्म (अर्थ)में अभेद माना गया है; क्योंकि ब्रह्मरूप अर्थका उच्चारण नहीं होता, परन्तु यहाँ ब्रह्मका उच्चारण कहा गया है। अतः दोनोंमें अभेद सिद्ध हुआ। इसी प्रकार (उपर्युक्त दूसरे उदाहरणमें) परशुरामजीका मानभङ्ग करनेवाले श्रीरामजी हैं, न कि उनका नाम, परन्तु दोनोंमें अभेद मानकर ही नामको परशुरामजीका मानभङ्ग करनेवाला कहा गया है। लोकमें ही शब्दार्थका तादात्म्य मानकर ही—**'श्लोकमशृणोत् अर्थं शृणोतु इति अर्थं वदति'** अर्थात् इसने श्लोक सुना, अब यह अर्थको सुने, अतः अर्थको कहता है—इत्यादि वाक्योंके प्रयोग किये जाते हैं। यहाँपर अर्थको सुनने और कहनेका प्रतिपादन किया गया है; परन्तु सुनना और कहना शब्दका ही होता है, न कि अर्थका। अतः कहना पड़ता है कि शब्द और अर्थमें अभेद मानकर ही लोकमें ऐसा व्यवहार प्रचलित है। इन पूर्वोक्त प्रमाणोंसे शब्द और अर्थमें अभेद अर्थात् तादात्म्य सिद्ध होता है।

१- देखियत— १७२१, १७६२, छ०, को०, रा०। कहियत—१६६१, १७०४। श्रीनंगे परमहंसजी **'देखिअत'** पाठको शुद्ध मानते हैं। वे कहते हैं कि 'रूप देखनेमें आता है न कि कहनेमें। नेत्रका विषय रूप है, बुद्धिका विषय विचार है। नेत्र तो रूप करके भिन्न देखता है किन्तु बुद्धि उसको विचारशक्तिसे एक करती है। इसलिये देखनेमें भिन्न है।……कहना वाणीका विषय है। वाणी बुद्धिके अधीन है। जो बुद्धि विचारसे निश्चय करेगी वही वाणी कहेगी।……जब बुद्धिने भिन्न नहीं किया, तब वाणी भिन्न कैसे कह सकती है।'

अब यह शङ्का होती है कि 'यदि शब्द और अर्थमें तादात्म्य है तो 'मधु' शब्दके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद तथा अग्नि शब्दके उच्चारणसे मुखमें दाह क्यों नहीं होता?' उसका एक उत्तर यह है कि 'तादात्म्य' शब्दका अर्थ 'भेदसहिष्णु अभेद' होता है (जिसको गोस्वामीजीने *'कहियत भिन्न न भिन्न'* शब्दसे कहा है); क्योंकि तादात्म्यकी परिभाषा **'तदभिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यम्'** की गयी है; अर्थात् उससे अभिन्न होते हुए भिन्न प्रतीत होना तादात्म्य है। अतः 'तादात्म्य' और 'भेदाभेद' एक तरहसे पर्याय कहे जाते हैं। एवं च शब्द और अर्थमें भेद होनेसे मधु और अग्नि शब्दोंके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद और दाह नहीं होती। वस्तुतः बुद्धिसत्तासमाविष्ट जो बौद्ध अर्थ है, वही शब्दोंका मुख्य वाच्य है। बौद्ध अर्थमें दाहादि शक्ति नहीं होती है। अतः माधुर्यास्वाद और दाहादि नहीं होते। इसको लघुमञ्जूषामें नागेशभट्टने भी कहा है। यथा—**'एवं शक्योऽर्थोऽपि बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव, न तु बाह्यसत्ताविष्टः। घट इत्यत एव सत्तावगमेन घटोऽस्तीति प्रयोगे गतार्थत्वादस्तीति प्रयोगानापत्तेः। सत्तयाविरोधाद् घटो नास्तीत्यस्यानापत्तेश्च। मम तु बुद्धिसतो बाह्यसत्तातदभावबोधनाय अस्ति, नास्तीति प्रयोगः। एवं च बौद्धपदार्थसत्ता आवश्यकी। तत्र बौद्धे अर्थे न दाहादिशक्तिरिति।'** जिस प्रकार मध्यमादिसे अभिव्यक्त बुद्धिमें प्रतिभा समान ही शब्द (स्फोट) वाचक कहलाता है, उसी प्रकार बौद्ध ही अर्थ 'वाच्य' होता है।* अर्थात् बाह्यसत्तायुक्त जो घटादि हम-लोगोंके दृष्टिगोचर होता है वह मुख्य वाच्य नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि यदि बाह्यसत्तायुक्त घट ही वाच्य कहा जाय तो **'घटोऽस्ति'** ऐसा जो प्रयोग बोला जाता है, उसमें **'अस्ति'** शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये; क्योंकि **'घटः'** इस (इतना कहने) से ही बाह्यसत्तायुक्त घटका बोध हो गया। किं च अब **'घटो नास्ति'** ऐसा प्रयोग भी प्रामाणिक नहीं होगा; क्योंकि घट शब्दसे बाह्यसत्तायुक्तका और **'नास्ति'** से सत्ताभावका बोध, परस्पर विरुद्ध होनेके कारण नहीं होगा। बौद्धार्थको जो वाच्य मानते हैं, उनके मतमें यह दोष नहीं होता; क्योंकि बुद्धिमें भासमान घटकी सत्ता रहनेपर भी बाह्यसत्ताका अभाव बोधन करनेके लिये **'नास्ति'** शब्दका प्रयोग और बाह्यसत्ता बतलानेके लिये **'अस्ति'** शब्दका प्रयोग भी प्रामाणिक है। इससे बौद्धपदार्थका वाच्यत्व स्वीकार करना आवश्यक है। बौद्ध पदार्थमें दाहादिशक्ति नहीं है। अतः शब्द और अर्थमें अभेद स्वीकार करनेपर भी अग्नि शब्द उच्चारण करनेसे न तो मुखमें दाहरूप आपत्ति होगी और न तो मधु शब्दसे माधुर्यास्वाद होगा। अतः गिरा और अर्थमें अभेद सिद्ध हुआ जिसका दृष्टान्त गोस्वामीजी देते हैं। भाव यह है कि **'गिरा'** और **'अरथ'** अभिन्न होनेपर भी जैसे भिन्न मालूम पड़ते हैं, उसी तरह 'सीता' और 'राम' दोनों एक ही अभिन्न ब्रह्मतत्त्व हैं तथापि भिन्न मालूम पड़ते हैं। गिरा और अर्थका दृष्टान्त दार्शनिक विचारसे गम्भीर होनेके कारण जल और बीचिके सरल दृष्टान्तसे भी श्रीसीताजी और श्रीरामजीको अभिन्न ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादन किया। (दार्शनिक सार्वभौमजीके प्रवचनके आधारपर)

पं० रामकुमारजीने इस दोहेके भावपर प्रकाश डालनेवाले दो श्लोक ये दिये हैं—**'तत्त्वतो मन्त्रतो वापि रूपतो गुणतोऽपि वा। न पृथग्भावना यस्य स ज्ञेयो भावुकोत्तमः॥ काव्यप्रकरणस्यादौ मध्येऽन्ते कविभिः क्रमात्। तत्स्वरूपाङ्ग माहात्म्यकथनं क्रियते पृथक्॥'**(१-२) अर्थात् शक्ति और शक्तिमान्‌के प्रति तत्त्वसे, मन्त्रसे, गुणसे और रूपसे जिसकी भावना भिन्न-भिन्न नहीं (अभिन्नरूपसे ही) होती है, वही श्रेष्ठ भावुक है॥ काव्यप्रकरणके आदि, मध्य और अन्तमें कविलोग नायक और नायिकाके स्वरूप, अङ्ग (शक्ति) और माहात्म्यको क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं॥'(१-२) **(इनको स्मरण रखनेसे आगेकी बहुत-सी शङ्काएँ स्वयं हल हो जायँगी।)**

---

* जैसे कुम्हारके मनमें प्रथम घटका आकार आता है तब इन्द्रियोंके व्यापार (उद्योग) के द्वारा मिट्टीके आश्रयसे वह घट प्रकट (पैदा) होता है और वही हृदयस्थ घट वैखरी वाणीके आश्रयसे मुखके द्वारा 'घट' ऐसा नाम होकर प्रकट होता है। अतः लोकमें यह कहा जाता है कि मनुष्यके बोलनेसे और व्यवहारसे उसके हृदयका पता लगता है। तात्पर्य यह है कि 'घट' नाम और 'घट' पदार्थ बाहर व्यवहारमें दो मालूम पड़नेपर भी भीतर एक ही हैं।

☞ पिछली चौपाइयोंमें श्रीजानकीजीके और श्रीरामजीके चरणकमलोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् की। अब दोनोंके पदकी एक साथ अभिन्नभावसे वन्दना करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी यहाँ 'सीताराम' यह जो पद है इसकी वन्दना मानते हैं। वे कहते हैं कि चरणोंकी वन्दना ऊपर कर चुके, अब नामकी एकता यहाँ दिखाते हैं।

नोट २—श्रीसीतारामजीकी वन्दना ऊपर चौपाइयोंमें पृथक्-पृथक् की थी। अब एक साथ करते हैं। इसके कारण ये कहे जाते हैं कि—(क) ये दोनों देखने (कहने) में भिन्न हैं, अर्थात् पृथक्-पृथक् दो हैं; इसलिये भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) वन्दना की थी। और, विचारनेसे दोनों वास्तवमें दो नहीं हैं एक ही हैं, अभिन्न हैं, इसलिये अब एकमें वन्दना की। (पं० रामकुमार) (ख) श्रीमद्गोस्वामीजी आगे 'नामकी वन्दना करेंगे, तब वहाँ *'बंदउँ नाम राम'''''* ऐसा कहेंगे। उससे कदाचित् कोई यह शङ्का करे कि 'सीता' ब्रह्मका नाम नहीं है, वा, 'सीता' माया हैं, इसीसे उनका नाम छोड़ दिया गया', इसी कारणसे प्रथम ही यहाँ दोनों नामोंकी एकता दिखायी है। ऐक्यका प्रमाण यथा—'**श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयः। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु स धन्यो भाविनां वरः॥**' (ब्रह्मरामायण) दोनोंमें अभेद है और दोनों ही ब्रह्मके नित्य अखण्ड स्वरूप हैं। जैसा श्रीमनुशतरूपा-प्रकरण दोहा १४३—१४८से विदित है। वहाँ मनु-शतरूपाजीके *'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥' 'अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥' 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥' 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* (१। १४४) और भक्तवत्सल प्रभुने उनकी यह अभिलाषा जान और उनकी प्रार्थना सुनकर कि *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'* उनको दर्शन दिया। 'श्रीसीताराम' युगलरूपसे दर्शन देकर जनाया कि हमारा अखण्ड ब्रह्मस्वरूप यही है। बृहद्विष्णुपुराणमें इसका प्रमाण भी है। यथा—'**द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः॥**' '**यद्वा शब्दात्मको रामो सीता शब्दार्थरूपिणी। यद्वा वाणी भवेत् सीता रामः शब्दार्थरूपवान्॥**' पुनश्च अद्भुतरामायण यथा—'**रामः सीता जानकी रामचन्द्रो नाहो भेदस्त्वेतयोरस्ति कश्चित्। संतो बुद्ध्वा तत्त्वमेतद्विबुध्वा पारं जाताः संसृतेर्मृत्युवक्त्रात्॥**'(पं० रा० कु०) (ग) अगली चौपाईसे कोई यह न समझे कि गोस्वामीजी केवल रामोपासक हैं, क्योंकि यदि (श्रीसीताराम) युगलरूपके उपासक होते तो *'बंदउँ सीता राम नाम'* या ऐसे ही कुछ युगलनामसूचक शब्द लिखते। इसलिये भी यहाँ दोनोंमें एकता दिखायी। (मा० प्र०) (घ) श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि ऊपर रूपकी वन्दना है और नीचे नामकी वन्दना है, बीचमें यह दोहा देकर 'ग्रन्थकारने श्रीसीतारामजी महाराजका और श्रीसीतारामजीके नामकी ऐक्यता की है। दोनों रूपों और दोनों नामोंकी ऐक्यताके लिये दो उपमाएँ दी हैं। नामकी ऐक्यता गिरा-अर्थकी उपमासे और रूपकी एकता जल बीचिकी उपमासे की है।'

नोट ३—अब यह प्रश्न होता है कि 'एकता तो एक ही दृष्टान्तसे हो गयी तब दो दृष्टान्त क्यों दिये?' और इसका उत्तर यों दिया जाता है कि—(१) *'गिरा अरथ'* से गिरा कारण और अर्थ कार्य सूक्ष्म रीतिसे समझा जा सकता है, इससे सम्भव है कि कोई यह सिद्ध करे कि 'श्रीसीताजी' कारण और 'श्रीरामजी' कार्य हैं। इसी तरहसे *'जल बीचि'* से जल कारण और बीचि कार्य कहा जा सकता है। दो दृष्टान्त इसलिये दिये कि यदि कोई श्रीसीताजीको कारण कहे तो उसका उत्तर होगा कि *'जल बीचि'* की उपमासे तो रामजी कारण सिद्ध होते हैं, क्योंकि गिरा स्त्रीलिङ्ग है और अर्थ पुँल्लिङ्ग है और *'जल बीचि'* में जल पुँल्लिङ्ग (जल शब्द संस्कृतमें नपुंसकलिङ्ग है पर भाषामें दो ही लिङ्ग होते हैं इसलिये पुँल्लिङ्ग कहा जाता है।) और *'बीचि'* स्त्रीलिङ्ग है। और यदि कोई 'श्रीरामजी' को कारण कहे तो उसको *'गिरा अरथ'* से निरुत्तर कर सकेंगे। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक स्पष्ट हो जावेगा कि इनमें कारण-कार्यका भेद नहीं है। (मा० प्र०) (२) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि ब्रह्मके दो रूप हैं। एक सगुण, दूसरा निर्गुण। गिरा अर्थवाला दृष्टान्त निर्गुणका है, क्योंकि यह देखनेकी वस्तु नहीं है। वाणी केवल सुननेसे कर्ण-सुखद होती हैं और अर्थ मनमें आनेपर सुख देता है; इससे भिन्न हुआ; पर वास्तवमें दोनों अभिन्न

हैं, क्योंकि वाणीमें अर्थ साथ ही रहता है। जैसे गिराके अभ्यन्तर अर्थ है, पर प्रकट होता है वक्ता-श्रोताके एकत्र होनेपर, वैसे ही श्रीसीताजीमें श्रीरामजी सनातनसे हैं, पर प्रकट होते हैं प्रेमियोंकी कांक्षा होनेपर। श्रीकिशोरीजीके हृदयसे प्रकट होकर प्रेमियोंको सुख देते हैं। यह दिव्य धामकी लीला नित्य ही त्रिगुणसे परे निर्गुण है जो देखनेका विषय नहीं है, ज्ञानद्वारा समझा जाता है। *'जल बीचि'* का दृष्टान्त सगुणरूपका है। जबतक वीची प्रकट नहीं होती, तबतक जलका रूप पृथक् देखनेमें आता है। वायुवश तरङ्ग उठनेपर उसका भी रूप पृथक् देखनेमें आता है। उसी प्रकार प्रेमियोंके प्रेमरूपी वायुका टक्कर जलवत् सगुणब्रह्म श्रीरामजीमें लगनेसे किशोरीजी प्रकट होती हैं तब दोनोंके रूप भिन्न देखनेमें आते हैं, वस्तुतः जलवीचीवत् दोनों अभिन्न हैं। यह भाव बैजनाथजीके आधारपर है। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रकृति-पुरुष एक ही हैं। जैसे वाणीमें अर्थ गुप्त, वैसे ही प्रकृतिमें अगुणरूप गुप्त। लोकोद्धारहेतु सगुणरूपसे दोनों प्रकट हुए, जलवीचीसम देखनेमें आते हैं। (३) पृथक्-पृथक् वन्दनासे यह शङ्का होती कि 'जैसे भरतादि भ्राता श्रीरामजीके अंश हैं, वैसे ही श्रीसीताजी भी अंश हैं', इस सन्देहके निवारणार्थ गिरा अर्थ और जलवीचीकी उपमा देकर दोनोंको एक ही जनाया। भरतादि भ्राताओं और श्रीरामजीमें (यद्यपि तत्त्व एक ही है तथापि) अंश-अंशीभेद है, किन्तु श्रीसीतारामजीमें अंश-अंशीभेद नहीं है, दोनों एक ही ब्रह्म हैं। ब्रह्मका स्वरूप युगल है और ब्रह्म तो एक ही है। ब्रह्म पतिपत्नी युगल-स्वरूप अपनी इच्छासे धारण किये हुए हैं। यथा— **'स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतामिति।' (बृहदारण्यकं श्रुतौः १। ४। ३)**

(४) श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि—(क) 'शब्दसे अर्थ निकलनेपर शब्द और अर्थ दो देख पड़ते हैं, अतः भिन्न हैं और दोनों एक ही तत्त्वके बोधक होनेसे अभिन्न हैं। वैसे ही रामनाम और सीतानाम कारण-कार्य होनेसे देखनेमें भिन्न और एक ही तत्त्व होनेसे अभिन्न हैं। गिरा अर्थकी उपमा दोनों नामोंके लिये है। क्योंकि *'गिरा अरथ'* आखर (वाणी) का विषय है और नाम भी आखरका विषय है। (प्रमाण) *'आखर मधुर मनोहर दोऊ'।* जैसे शब्दमें अर्थ (का) लय रहता है वैसे ही रामनाममें सीतानाम (का) लय है, क्योंकि कारणमें कार्य लय रहता है।' इस तरह रामनाम सीतानामको *'गिरा अरथ'* की उपमासे लय करके ग्रन्थकारने एक नाम अर्थात् रामनामकी वन्दना प्रारम्भ की। (ख) 'रूपकी एकता तो केवल एक उपमा जल वीचिसे हो जाती है।' ऐक्यमें क्या बाकी रह जाता है जिसके लिये टीकाकारोंने *'गिरा अरथ'* की भी उपमा मिलाकर ऐक्य किया है। यदि रूपके ऐक्यमें दोनों उपमाएँ लगा दी जायँगी तो नामका ऐक्य कैसे होगा? क्योंकि नाम और रूप दो विषय हैं और दोनोंकी वन्दना पृथक्-पृथक् लिखी है तब ऐक्य भी पृथक्-पृथक् होगा। परमहंसजीकी इस शङ्काके सम्बन्धमें यह समाधान किया जाता है कि दोनों रूपोंकी एकता अभिन्नता स्थापित हो जानेपर नामकी तत्त्वतः अभिन्नता स्वतः ही हो जायगी, उसके लिये फिर उपमाओंकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उपर्युक्त बृहद्विष्णुपुराणके *'द्वौ च.....'* इस उद्धरणसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है; क्योंकि उसमें भी रूपकी एकता कहते हुए दोनोंके मन्त्रों और नामोंकी एकता कही गयी है।

(५) नंगे परमहंसजीका मत है कि श्रीरामजी कारण हैं और श्रीसीताजी कार्य हैं। प्रमाणमें वे ये चौपाइयाँ देते हैं—*'तनु तजि छाँह रहति किमि छेकी।', 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।', 'कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई।'* और कहते हैं कि तन कारण है, छाया कार्य है। श्रीरामजी शरीर, सूर्य और चन्द्ररूप हैं और श्रीसीताजी छाया, प्रभा और चन्द्रिकारूपा हैं। इससे श्रीरामजी कारण हुए और सीताजी कार्य। अन्य लोगोंके मतानुसार इस दोहेमें कारण-कार्यका निराकरण किया है।

पं०श्रीकान्तशरणजी इसके उत्तरमें कहते हैं—'उपमाके धर्मसे ही कविताका प्रयोजन रहता है। जैसे 'कमलके समान कोमल चरण' में कोमल धर्म है, अतः कोमलता ही दिखानेका प्रयोजन है, कमलके रङ्ग-रूप-रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसे ही *'प्रभा जाइ कहँ.....'* में प्रभा, चन्द्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चन्द्र और श्रीरामजी क्रमशः उपमान-उपमेय हैं। *'जाइ कहँ.....बिहाई', 'कहँ.....तजि जाई'* ये

दोनों धर्म हैं, वाचक पद लुप्त है। अतः उपमाद्वारा कविका प्रयोजन, केवल श्रीजानकीजीका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध दिखानामात्र है कि प्रभा और चन्द्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्रसे पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसे ही मैं आपके बिना नहीं रह सकती। ऐसे ही *'तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी'* में 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' ही दिखानेका प्रयोजन है। अतः उपर्युक्त *'गिरा अरथ'* में लिङ्ग-विरोध करके श्रीरामजीहीको कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिङ्गके अनुकूल उपमानका अर्थ असङ्गत होता है, वहाँ लिङ्ग-विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकीजीको कार्य कहनेमें अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।'

☞इस उत्तरमें उपमा और उपमेयकी जो बात कही है वह यथार्थ है, परन्तु आगे जो उन्होंने दोनोंके सम्बन्धसे 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' कहा है वह बात समझमें नहीं आती। 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध'का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ दो पदार्थ स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी एक-दूसरेसे पृथक् नहीं हो सकते। जैसे ब्रह्म और जीवमें 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' कहा जा सकता है। ब्रह्म और जीव इन दोनोंमें वस्तुतः भेद है; परन्तु ये एक-दूसरेसे कभी अलग नहीं होते। इसी तरह इनका ज्ञान इनसे पृथक् होनेपर भी इनसे अलग नहीं होता। अतः इनमें 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' कहा जाता है। नैयायिक जिसको 'समवाय सम्बन्ध' कहते हैं, वेदान्ती उसको भी 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' कहते हैं। जैसे मिट्टी और मिट्टीका घड़ा। इस दृष्टान्तमें कारण-कार्य सम्बन्ध है और प्रथम दो दृष्टान्तोंमें स्वरूपतः स्पष्ट भेद है। अतः श्रीसीताजी और श्रीरामजीमें 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' लगानेसे कार्यकारण-भाव या स्वरूपतः भेद ही सिद्ध होगा। 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' न कहकर उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है—

श्रीहनुमानगढ़ीके श्रीजानकीदासजीका मत है कि इस दोहेके पूर्वार्धके अर्थ चार प्रकारसे हो सकते हैं—(क) गिरा अरथ और जल बीचिके समान कहनेमें भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं।

(ख) गिरा अरथ और जल बीचिके समान कहनेमें 'भिन्न न' (अभिन्न) पर वस्तुतः भिन्न हैं।

(ग) गिरा अरथ और जल बीचिके समान कहनेमें भिन्न भी और नहीं भिन्न भी।

(घ) गिरा अरथ और जल बीचिके समान भिन्न-भिन्न (जो) नहीं कहे जा सकते।

अर्थ (क) में अभेद प्रधान है और भेद व्यावहारिक है। यह अद्वैती आदिका मत है। अर्थ (ख) में भेद प्रधान है। यह वैयाकरणादिका मत है। अर्थ (ग) में भेद और अभेद दोनोंही प्रधान हैं। यह गौड़िया सम्प्रदायका मत है। अर्थ (घ) में अभेद प्रधान और भेद लीलार्थ है। यह मत गोस्वामीजीका है। यद्यपि प्रथम अर्थसे ही गोस्वामीजीका मत सिद्ध हो जाता है तथापि उपमानके भेद सिद्ध करनेके जितने प्रकार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे एक भी प्रकार गोस्वामीजीके सिद्धान्तानुकूल नहीं है।

भेदाभेद उपमान और उपमेय दोनोंमें है, पर उपमानमें जिस विचारसे भेद सिद्ध होता है वह विचार यहाँके विचारसे अलग है। इन उपमानोंका केवल इतना ही अंश उपमेयमें लिया गया है कि अभेद होते हुए भी दोनों भिन्न हैं। 'भिन्न किस प्रकारसे हैं ?' इसका प्रतिपादन दोनों जगह पृथक्-पृथक् है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'वहाँके (उपमानके) भेदाभेद प्रतिपादन करनेवाले विचार यहाँ क्यों न लिये जायँ ?' तो उत्तर यह है कि वहाँके विचारोंमें बहुत मतभेद है। कोई व्यावहारिकता और पारमार्थिकता लेकर अपना पक्ष प्रतिपादन करते हैं तो कोई कार्य-कारण-भाव लेकर, इत्यादि। यदि उनमें एक मत होता तो सब अंश लिया जाता। इसलिये इस दोहेका अर्थ करनेमें लोग अपने-अपने सिद्धान्तानुसार भेदाभेदका प्रतिपादन कर सकते हैं। परन्तु गोस्वामीजीका सिद्धान्त यह है, **'एकं तत्त्वं द्विधा भिन्नम्'** अर्थात् एक ही ब्रह्मतत्त्व लीलाके लिये दो हुआ है। श्रीरामकृष्णादिवत्। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों एक तत्त्व हैं पर नाम, रूप, लीला और धामसे दोनों भिन्न हैं। इस मतकी पुष्टि मानसके *'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥' 'नाहिं त मोर मरनु परिनामा।'* (२।८२) महाराज दशरथजीके इन वाक्योंसे होती है। फिर आगे भी कहा है—*'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहिं तुम्हहि करनीया॥' 'न तरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥'* (२।९६) इन वचनोंसे

स्पष्ट है कि श्रीरामजी और श्रीसीताजी दोनों एक ही हैं। नहीं तो दशरथमहाराजका जीवन तो श्रीरामदर्शनाधीन था, यथा—*'जीवनु मोर राम बिनु नाहीं', 'जीवनु रामदरस आधीना।'* (२।३३), *'नृप कि जिइहि बिनु राम।'* (२। ४९) उन्होंने यही वर माँगा था। यथा—*'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥', 'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥'* (१। १५१) तब श्रीसीताजीके दर्शनसे वे कैसे जीवित रह सकते थे, यदि दोनों एक न होते ?

अब विचार करना है *'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥', 'तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी।'* (२। ९७) इत्यादिपर। इसका समाधान यह हो सकता है कि जैसे श्रीरामजी और श्रीसीताजीका नित्य संयोग होनेपर भी (जैसा सतीमोह-प्रसङ्गसे स्पष्ट है) श्रीरामजीका वियोग-विरह-विलाप, वनमें सीताजीको खोजना, सर्वज्ञ होते हुए भी वानरोंद्वारा खोज कराना, श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर प्रलाप करना, इत्यादि सब केवल नरनाट्य है, वैसे ही श्रीसीताजीके ये वाक्य भी केवल नरनाट्य हैं, लीलार्थ हैं। अर्थात् जैसे कोई प्राकृत पतिव्रता ऐसे प्रसङ्गोंमें कहती, वैसा उन्होंने भी कहा। अतएव उपर्युक्त *'प्रभा जाइ·····'* आदि वाक्योंसे दोनोंमें किसी प्रकारका भेद मानना उचित नहीं जान पड़ता।

(६) एक दृष्टान्तमें स्त्रीलिङ्ग पहले, दूसरेमें पुँल्लिङ्ग पहले देकर सूचित किया कि चाहे सीताराम कहो, चाहे रामसीता; कोई भेद इसमें स्त्री-पुरुषका भी नहीं है। यथा—'**रामः सीता जानकी रामचन्द्रो नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः।**' (अथर्व०)

(७) एक ही ब्रह्म स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग दोनों हैं। यथा—'**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**' 'सीताराम' में सीता गिरा स्त्रीलिङ्ग, फिर 'सीताराम' को *'जल बीचि सम'* कह सीताको पुँल्लिङ्गकी उपमा दी, इसी प्रकार 'राम' पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों हैं। पुनः जैसे *'बानी'* से अर्थका बोध और अर्थसे वाणीकी सूचना होती है, जल कहनेसे पानीका बोध होता है, जल-पानी एक ही वस्तु है, ऐसे ही 'राम' से 'सीता', 'सीता' से 'राम' का बोध होता है। पुनः, जैसे जलबीचि, गिरा अर्थका सम्बन्ध सनातनसे है वैसे ही श्रीसीतारामजी सनातनसे एक हैं। जबसे वाणी है तभीसे अर्थ भी और जबसे जल है तभीसे लहर भी है।

नोट—४ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि *'गिरा अरथ'* और *'जल बीचि सम'* कहनेका यह भाव है कि 'जगत्-पिता श्रीरामचन्द्रजी और जगज्जननी श्रीजानकीजीमें परस्पर परम प्रीति है। अर्थात् अभेद हैं। अतः प्रथम गिरासे रूपक देकर श्रीजानकीजीसे मति और गिरा माँगी और अर्थसे श्रीरामजीका रूपक देकर उस गिरामें अनेक अर्थ माँगा। वह मतिरूपी जल हृदयरूपी जलधिमें पूर्ण है। उस जलधिसे अनेक अर्थतरङ्गें उठती हैं जिसमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, परस्पर अभेद शोभित हो रहा है।'

नोट—५ *'कहिअत भिन्न न भिन्न'* इति। (क) जैसे सूर्य और सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमा और चाँदनी इत्यादि कथनमात्रको दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। यथा—*'रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा।'* (६। ११०), *'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥'* (२। ९७) तथा नाम, रूप, वस्त्र, भूषणादि देख यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी पुरुष हैं, श्यामस्वरूप हैं, किरीट, मुकुट आदि धारण किये हैं और श्रीसीताजी स्त्रीस्वरूपा गौराङ्गिनी हैं, चन्द्रिकादिक धारण किये हैं, इत्यादि रूपसे कहनेमात्र दोनों न्यारे हैं; परन्तु तत्त्वरूपसे दोनों एक ही हैं।* (ख) प्रोफेसर दीनजी लिखते हैं कि मेरी सम्मति यहाँ सबसे भिन्न है। सब लोग इसे 'सीताराम' का विशेषण मानते हैं पर मैं इसे पदका विशेषण मानता हूँ। सारा भेद इसीमें भरा है, लिख नहीं सकता, अकथ्य है। (ग) 'सीतारामपद' से भी भिन्नता होते हुए भी अभेदता सूचित की है। इस प्रकार कि जो २४ चिह्न श्रीसीताजीके दक्षिण पदारविन्दमें हैं वे ही श्रीरामचन्द्रजीके

---

* 'सीता' 'राम' का तत्त्वरूपसे एक होना यों सिद्ध होता है कि (१) वेदमें 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, जिसमें 'तत्' 'त्वम्' 'असि' पद क्रमसे ब्रह्म, जीव, मायाके वाचक हैं। प्रमाणम्, यथा—'ब्रह्मेति तत्पदं विद्धि त्वं पदो जीव निर्मलः। ईश्वरोऽसि पदं प्रोक्तं ततो माया प्रवर्तते॥' (महारामायण ५२। ५५) वह 'तत्त्वमसि' 'राम' और 'सीता' दोनों नामोंसे सिद्ध होता है। 'र' से 'तत्' दीर्घाकारसे 'त्वम्' पद और 'म' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणम्

वाम पदमें हैं और जो उनके वाम पदमें हैं वे इनके दक्षिण पदमें हैं। यथा—'**तानि सर्वाणि रामस्य पादे तिष्ठन्ति वामके। यानि चिह्नानि जानक्या दक्षिणे चरणे स्थिता॥**', **यानि चिह्नानि रामस्य चरणे दक्षिणे स्थिता। 'तानि सर्वाणि जानक्या पादे तिष्ठन्ति वामके॥**' (महारामायण) (घ) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी 'सीतारामपद' का यह भाव कहते हैं कि 'रामोपासक पुरुषके, सीतोपासक प्रकृतिके और श्रीसीतारामोपासक अखण्ड ब्रह्मके उपासक हैं। क्योंकि जैसे ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष, किन्तु अनिर्वचनीय है, वैसे ही 'सीताराम' के मिलनेसे यह मूर्ति न स्त्री है न पुरुष, किन्तु अकथ ब्रह्मरूप है। इस प्रकार सगुणमें निर्गुण सुख भी सुलभ हुआ जानिये। '*राम मूल सिय तिलक मूल, को दोउनको सानि सकै। जोई देव सोई है देवी यह रहस्य को जानि सकै॥*' (रा० प० प०)

नोट—६ जब 'सीताराम' अभिन्न हैं और श्रीरामनामकी वन्दनासे श्रीसीतानामकी वन्दना हो गयी। इसी तरह यदि श्रीसीतानाममें श्रीरामनामकी वन्दना हो जाती है तो 'सीता' नामकी ही वन्दना क्यों नहीं की? समाधान यह किया जाता है कि—(क) श्रीरामावतार प्रथम हुआ। वसिष्ठजीने नामकरण किया। इस तरह रघुबर 'राम' का प्राकट्य प्रथम हुआ। श्रीसीताजीका प्रादुर्भाव छः-सात वर्ष पीछे हुआ। इस तरह माधुर्यमें पहले 'राम' रूप और नाम देखने-सुननेमें आये तब 'सीता' रूप और नाम। कवि वन्दना 'रघुबर राम नाम' की कर रहे हैं, इसलिये शङ्काकी बात नहीं रह जाती। यदि श्रीसीताजी प्रथम प्रकट हुई होतीं तो सीतानामसे वन्दना उचित होती। (ख) दोनों नामोंमें पति-पत्नी-सम्बन्ध, शक्तिमान्-शक्तिसम्बन्ध होनेसे भी पतिकी वन्दना सशक्तिवन्दना समझी जाती है। (ग) उच्चारणकी सुलभता भी रामनाममें है। रामनाम निर्गुण-सगुण दोनोंका बोधक है। (घ) योगियोंको भी 'राम' नाम ही सुलभ होता है। (ङ) महारानीजीकी प्रसन्नता भी इसी नामके प्रचारमें होगी। वे स्वयं भी जीवको उसीका उपदेश करती हैं।

नोट—७ '*परम प्रिय खिन्न*' इति। '*खिन्न*' (क्षीण)=दीन, दुबला, आर्त्त। यहाँ अन्न-वस्त्रादिसे हीन गरीब नहीं हैं, किन्तु नाना भोग त्यागकर शरीरका निर्वाहमात्र करके दीनतापूर्वक जो प्रभुकी शरण हैं और जिन्हें प्रभुको छोड़ और किसी साधनका आशा-भरोसा नहीं रह गया है, वे ही दीन हैं। दीन, यथा—'*करमठ कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यान बिहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरें दीन॥*' (दो० ९९) दीन परमप्रिय हैं, यथा—'*यहि दरबार दीनको आदर, रीति सदा चलि आई।*' (वि० १६५), '*दास तुलसी दीनपर एक राम ही की प्रीति।*' (वि० २१६), '*मोटो दसकंध सो न दूबरो बिभीषण सो बूझि परी रावरें की प्रेम पराधीनता।*' (क०) पुनः; '*परम प्रिय खिन्न*' कहकर सूचित किया है कि—(क) प्रिय तो सभी हैं; परन्तु जो दीनतापूर्वक शरणमें आते हैं वे परम प्रिय हैं। (बैजनाथजी) (ख) जब आर्त्तजन भी परम प्रिय हैं तो ज्ञानी आदि भक्तोंका तो कहना ही क्या ? (मा० त० वि०)

श्रीसीतारामधामरूपपरिकर-वन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

यथा—'रकारस्तत् पदो ज्ञेयस्त्वं पदाकार उच्यते। मकारोऽसि पदं खंजं तत् त्वं असि सुलोचने॥' (महारामायण ५२। ५४) वही 'सीता' पदसे इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'सीता' नाम तीन बार कङ्कणाकार लिखें तब चित्रकाव्य होता है, जिस अक्षरसे चाहें उठा सकते हैं। इस रीतिसे सीताका 'तासी' हो गया, जहाँ 'त' से 'तत्' पद, 'आ' से 'त्वम्' पद और 'सी' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणम्, यथा—'लिखितं त्रिविधं सीता कङ्कणाकृतिशोभितम्। चित्रकाव्यं भवेत्तत्र जानन्ति कविपण्डिताः॥', 'तकारं तत्पदं विद्धि त्वं पदाकार उच्यते। दीर्घता च असि प्रोक्तं तत्त्वं असि महामुने॥' (महासुन्दरीतन्त्र) (२) 'राम' से 'सीता' और 'सीता' से 'राम' हो जाता है। व्याकरणकी रीतिसे रेफ विसर्ग होकर सकार हो जाता है और 'म' अनुस्वार होकर तकार बन जाता है। इस तरह 'राम' का 'सीता' हुआ। पुनः सकार विसर्ग होकर रेफ और तकार अनुस्वार होकर 'म' हुआ। इस तरह 'सीता' का 'राम' हो गया। यों भी दोनों नामोंका तत्त्व एक है। (मा० प्र०) मानस-तत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'रकार वा सकारका विसर्ग और मकारका अनुस्वार इस प्रकार होता है कि 'स्रोविसर्गः।' सकार रेफयोर्विसर्जनीयादेशो भवत्यधातो रसे पदान्ते च धातोः पदान्ते न तु रसे'॥ १॥ 'मोऽनुस्वारः।' 'मकारस्यानुस्वारो भवति रसे परे पदान्ते च'। एवं 'तन्निवारण' शब्दमें तकारका नकार होना॥ २॥ ऐक्यभावसे नकारका तकार होना एवं भाषान्तरमें अ, आ का इ, ई वा उ, ऊ होना पाते हैं। यथा—'तरिषा तारिषी'। तथा, आकारका 'ई' होना 'ईकार' का 'आ' होना, द्विरूपकोशमें सिद्ध होता है। तो अब शब्दरूप निर्भिन्न तत्त्व ठहरा।'

श्रीरामनामवन्दना-प्रकरण

बंदौं नाम राम रघुबर को । हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥ १॥

शब्दार्थ-कृसानु=अग्नि । भानु=सूर्य। हिमकर=चन्द्रमा।

अर्थ—मैं रघुवरके 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका कारण है॥ १॥

नोट—१ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानन्दविग्रह चतुष्टयमेंसे चरित-गान करनेके लिये धाम और रूपकी वन्दना कर चुके, अब नामकी वन्दना करते हैं। वन्दनामें ही रामनामका अर्थ, महिमा, गुण आदि कहकर नामका स्मरणकर चरित कहेंगे। यथा—'*सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा॥*' (१। २८)

नोट—२ बैजनाथजीका मत है कि रामनामका अर्थ आगे कहना है, परन्तु नामार्थकथनका सामर्थ्य वेदोंमें भी नहीं है, ऐसा शिवजीका वचन है। यथा—'**वेदाः सर्वे तथा शास्त्रे मुनयो निर्जरर्षभाः। नाम्नः प्रभावमत्युग्रं ते न जानन्ति सुव्रते ॥''''' ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकम्पया ॥**' (महारामायण ५२ । ३। ४) शिवजी श्रीराम (रूप) की कृपासे कुछ कहते हैं। उनको रूपकी दया प्राप्त है पर हम-ऐसोंको वह कहाँ प्राप्त ? नामकी दया नीच-ऊँच सबको सुलभ है, इसलिये गोस्वामीजी नामकी ही वन्दना करके, नामके दयाबलसे रामनामका अर्थ कहते हैं, अतः '*बंदौं नाम*' कहा।

नोट—३ '*बंदौं नाम राम ''''*' इति । (क) '*नाम राम*' यही पाठ १६६१, १७०४, १७२१, १७६२ छ०, को० राम आदिकी पोथियोंमें है। करुणासिन्धुजी, बाबा हरिहरप्रसाद, पं० रामबल्लभाशरणजी, रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि इसीको शुद्ध मानते हैं। कुछ छपी हुई पुस्तकोंमें '*रामनाम*' पाठ है पर किस प्राचीन पोथीसे यह पाठ लिया गया है, इसका पता नहीं। प्राचीनतम पाठ '*नाम राम*' है। श्रीमद्गोस्वामीजीने इसमें यह विलक्षणता रखी है कि यह रामनामवन्दना-प्रकरण है और इसमें आगे चलकर वे '*राम नाम*' को '*ब्रह्म राम*' अर्थात् नामीसे बड़ा कहेंगे; इस विचारसे आदिमें ही 'नाम' शब्द प्रथम देकर नामको नामीसे बड़ा कहनेका बीज यहीं बो दिया है। (श्री १०८ रामशरणजी, मौनीबाबा, रामघाट) ना० प्र० सभाका पाठ '*राम नाम*' है। (ख) '*नाम राम रघुबर को*' इति। किस नामकी वन्दना करते हैं? 'राम' नामकी पर 'राम' शब्दमें तो अतिव्याप्ति है। यह न जान पड़ा कि किस 'राम' के नामकी वन्दना है। 'राम' से रमणाद्राम, परशुराम, रघकुलमें अवतीर्ण 'राम', यदुकुलवाले बलराम और किसी-किसीके मतसे शालग्रामका भी बोध होता है। मेदिनीकोशमें भी कई राम कहे गये हैं, यथा—'**रामा योषा हिंगुलिन्योः क्लीबं वास्तु ककुष्टयोः। ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे॥**' (मेदिनी) पद्मपुराण उत्तरखण्ड २२९। ४० में भी तीन राम 'राम' शब्दसे ही कहे गये हैं। यथा—'**मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश॥**'(४१) ज्योतिष, पिङ्गल और अन्य स्थलोंमें जहाँ संख्याका दिग्दर्शन किया जाता है वहाँ 'राम'से 'तीन' का अर्थ व्यवहारमें आता है। यद्यपि कोशमें 'राम' शब्द अनेक व्यक्तियोंका बोधक कहा गया है तथापि 'राम' शब्द तीन ही व्यक्तियोंके साथ विशेष प्रसिद्ध होनेसे लोग उसकी संख्या तीन मानते हैं। मानस और भागवतमें भी तीनका प्रमाण है। परशुराम और बलरामको भी 'राम' कहा गया है। यथा—'*बार बार मुनि बिप्र बर कहा राम सन राम॥*' (१।२८२) इसमें प्रथम 'राम' रघुवर रामका और दूसरा 'राम' परशुरामका बोधक है। इसीसे तो परशुरामजीने कहा भी है कि '*करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त छाँडु कहाउब रामा॥*' (१।२८१) पुनः यथा—भागवत, 'रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम्॥' (१०। ३९। १३) (गोपियोंने सुना कि अक्रूर राम और कृष्णको मथुरा ले जानेके लिये व्रजमें आये हैं), 'तावेव **ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ॥**' (भा० १०। ३९।४१) (जलमें जप करते-करते अक्रूरने राम-कृष्ण दोनों भाइयोंको वहीं अपने पास देखा) इत्यादि। यहाँ 'राम' शब्द 'बलरामजी'के लिये आये

हैं। अन्तर्यामीरूपसे जो सबमें रमते हैं वे भी 'राम' कहलाते हैं। कबीरपंथी, सत्यनामी आदि कहते हैं कि उनका 'राम' सबसे न्यारा है, वह दशरथका बेटा नहीं है। शालग्राममें भी श्रीरामजीके स्वरूप होते हैं जो कुछ विशिष्ट चिह्नोंसे पहचाने जाते हैं। अतएव 'रघुवर' विशेषण देकर श्रीदशरथात्मज रघुकुलभूषण श्रीरामजीके 'राम' नामकी वन्दना सूचित की और इनको इन सबोंसे पृथक् किया। (ग) मयङ्ककारका मत है कि रघुबर=रघु (जीव)+ वर (पति)=जीवोंके पति। अर्थात् मुझ जीवके (एवं चराचरमात्रके जीवोंके) पति (स्वामी) जो श्रीरामजी हैं यथा—*'ब्रह्म तू हौं जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो'* (विनय०) उनके 'राम' नामकी वन्दना करता हूँ। (घ) 'राम' से ऐश्वर्य और *'रघुबर'* से माधुर्य जताकर दोनोंको एक जनाया। बैजनाथजी लिखते हैं कि *'परब्रह्म'* श्रीरामचन्द्रजीने अपना ऐश्वर्य त्यागकर *'रघुबर'* रूप हो अपना सौलभ्य गुण दिखाया। इससे 'रामरघुवर कहकर वन्दना की।' (ङ) श्रीभरद्वाजमुनिके प्रश्नसे गोस्वामीजीने श्रीरामचरित प्रारम्भ किया है। उन्होंने तथा श्रीपार्वतीजीने यह प्रश्न किया है कि 'ये राम कौन हैं?' यथा—*'राम नाम कर अमित प्रभावा।'''' एक राम अवधेसकुमारा ।'''' प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।'* (१।४६)*'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥'* (१।१०८) श्रीगोस्वामीजीने इसका उत्तर और अपना मत *'रघुबर'* शब्दसे सूचित कर दिया है।

गौड़जी—*'बंदौं नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥'* *'रामनाम रघुबर को।'* रामनामकी वन्दना आरम्भ करनेमें विशेषतया *'रघुबर'* का नाम क्यों कहते हैं? 'राम' नाम तो अनादि है। रामावतार होनेके अनेक युग पहले प्रह्लाद और ध्रुवने इसी नामको जपकर सिद्धि पायी। शङ्करभगवान् अनादिकालसे यही नाम जपते आये हैं। वसिष्ठजीने तो दशरथके पुत्रोंके पुराने नाम रख दिये। राम तो भार्गव जामदग्न्येयका भी नाम था। यहाँ जिस रामनामकी वन्दना करते हैं वह कौन-सा नाम है? परशुधरका नाम तो हो नहीं सकता। प्रह्लाद, ध्रुव आदिद्वारा जपे गये नामकी वन्दना अवश्य है, जैसा कि आगे चलकर कहा है—*'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥'*, *'ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ॥'* परन्तु वह रामनाम तो परात्पर परतम ब्रह्मका है और वही ध्रुव, प्रह्लादने जपा है। तो यहाँ *'रघुबर को'* रामनाम कहकर मानसकार यह दिखाना चाहते हैं कि रघुवरके रामनाम और परात्पर परतमके रामनाममें कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं।

अभी तो वह शङ्का कि *'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि'* उठी ही नहीं है, फिर यहाँ *'रघुबर'* शब्दकी विशिष्टताका क्या प्रयोजन है? इसी प्रश्नके उत्तरमें मानसकी रचनाका रहस्य छिपा हुआ है। मानस तो त्रिकालके लिये कल्याणकारी है फिर मानसकारको उसके अपने ही कालमें प्रकट करनेका भी कोई विशेष प्रयोजन था? इस प्रश्नका उत्तर मानसकारकी परिस्थितिका इतिहास देता है। मानसकारने अठहत्तर वर्षकी अवस्थामें मानसका लिखना आरम्भ किया। इस अठहत्तर वर्षकी अवधिमें उन्होंने क्या-क्या देखा? मुसलमानोंके लोदी पठानोंकी पराजय, बाबरकी विजय, हुमायूँका भागना, शेरशाहसूरी और उसके वंशजोंका विभव और पराभव, फिर अकबरका राज्य, उसकी विजय, उसका दीर्घकालीन शासन। जौनपुरकी मुसलमानी सल्तनतका पतन। एक मुसलमानी राजवंशका विनाश और दूसरेका उत्थान। तीन सौ बरसोंसे जड़ जमाये हुए मुसलमानी मत और संस्कृतिका प्रचार। मुसलमानोंके प्रभावसे हिन्दूधर्मकी विचलित दशा और उसकी रक्षाके लिये अनेक सम्प्रदायोंका खड़ा होना। मुसलमानका भक्तिवाद विलक्षण था। वह अव्यक्तकी उपासना करता था, निराकार सगुण ब्रह्मको मानता था। वह देवताओंका पूजक न था और न भगवान्‌का अवतार मानता था। हिन्दू अपने धर्मका प्रचारक न था परन्तु मुसलमान प्रचारके पीछे हाथ धोकर पड़ा था। उसका सीधा-सादा धर्म था परन्तु उसके समर्थनमें बल और वैभव दोनों थे, तलवार और दौलत दोनों थीं। उससे हिन्दूजनताकी रक्षा करनेके लिये अनेक पन्थसम्प्रदाय आदि चल पड़े। वैष्णवसम्प्रदायोंने अवतारवाद, सगुणवाद, मूर्तिपूजा आदिपर प्रतिक्रियात्मक जोर दिया और मुसलमानोंसे अलग ही रहनेका प्रयत्न किया। कबीर और नानकके निर्गुणवादमें मुसलमानोंको

मिलानेकी कोशिश की गयी। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रमधर्म और साकार ब्रह्मका कहीं-कहीं खण्डन किया गया और कहीं इन बातोंका निश्चित अपकर्ष दिखाया गया। कबीरपन्थकी यह मुख्य बातें थीं। गोस्वामीजीका कम-से-कम कबीरपन्थके मन्तव्योंके साथ अधिक सङ्घर्ष हुआ होगा, क्योंकि इस पन्थका उद्गम भी काशी नगरी ही थी। कबीरने परतम परात्पर ब्रह्मका नाम 'राम' माना और उसके जपका उपदेश करते रहे, परन्तु '**रघुबर**' का नाम उसे नहीं मानते थे। यह बात गोस्वामीजीको अवश्य खली होगी। उनकी साखी है, '***दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंकाके राव सताया॥***' जिस परमात्माका नाम राम है, वह दशरथके घर कभी नहीं जन्मा। ☞ रामचरितमानसमें रामनामकी वन्दनामें इसीका खण्डन आरम्भसे है। '**रघुबर**' के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखायी है और रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है।

नोट—४ परमेश्वरके तो अनन्त नाम हैं, उनमेंसे श्रीरामनामकी ही वन्दनाका क्या हेतु है? उत्तर—(क) प्रभुके अनन्त नाम हैं पर 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यथा—'**परमेश्वरनामानि सन्त्यनेकानि पार्वति। परन्तु रामनामेदं सर्वेषामुत्तमं मतम्॥**' (महारामायण ५०। १५), '**अनन्ता भगवन्मन्त्रा नानेन तु समाः कृताः। श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौन्दर्यगुणसागरात्॥**', '**श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम्। रमणान्नित्युक्तत्त्वाद्राम इत्यभिधीयते॥**' (हारीतस्मृत चौथा अध्याय) अर्थात् परमेश्वरके अनेक नाम हैं परन्तु रामनाम सर्वोत्तम है। पुनः भगवान्‌के अनन्त मन्त्र हैं पर वे सब इस 'राम' नामके तुल्य नहीं हैं। श्रीजीके रमणका सामर्थ्य तथा सौन्दर्यगुणसागर होनेसे श्रीराम यह प्रसिद्ध नाम है। सबको नित्य आनन्द देते हैं इसीलिये उनको 'राम' कहा जाता है। पुनः, पद्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि 'राम' यह नाम विष्णुके सहस्रों नामके तुल्य है, समस्त वेदों और समस्त मन्त्रोंके जपसे कोटिगुणा पुण्यका लाभ श्रीरामनामके जपसे होता है। यथा—'**जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति। तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥**' (पद्मपुराण) पुनः जिस तरह 'श्रीमन्नारायणके पर्यायवाची 'विष्णु' के अनेक सहस्र नामोंके तुल्य या उनसे अधिक श्रीरामनामका होना पाया जाता है, उसी तरह श्रीरामनामके बराबर या अधिक श्रीमन्नारायणादिका माहात्म्य किसी श्रुति या स्मृतिमें नहीं पाया जाता। (बाबा श्रीहरिदासाचार्यजी) पुनश्च '**श्रीरामनाम नमो ह्येतत् तारकं ब्रह्मनामकम्। नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्यमेव महामनुः॥**' (हारीत) 'राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥' (प० पु० उ० २५४। २२)

(ख) जितने अन्य मन्त्र हैं, वे सब देवताओंके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। जैसे गायत्रीमें सूर्यका प्रकाश है, शाबरमन्त्रमें श्रीशिवजीका और इसी भाँति किसीमें अग्निका, किसीमें चन्द्रमाका प्रकाश है। परन्तु श्रीरामनाम स्वतः प्रकाशित हैं और सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि सभी देवताओंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित किये हुए हैं। यथा—'***सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥***' (१।११७) (पं० रामकुमारजी) '**स्वर्भूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।**' (रा० पू० ता० २। १) '**रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च**' (रा० पू० ता० २। ३) '**रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे**' (जाबालो० प० १) इन श्रुतियोंमें 'राम' नामको स्वयम्भू (अपने-आप प्रकट होनेवाले, किसी दूसरेसे जायमान नहीं), ज्योतिर्मय, प्रणव आदि अनन्तरूप धारण करनेवाला अर्थात् प्रणवादिका कारण और रेफके आश्रित सम्पूर्ण भगवद्रूपों एवं श्री, भू और लीलादि भगवच्छक्तियोंका होना कहकर सम्पूर्ण मन्त्रोंका प्रकाशक और रुद्रद्वारा उपदिष्ट होना कहा गया है।

(ग) श्रीरामनाम सब नामोंके आत्मा और प्रकाशक हैं। यथा—'**नारायणादि नामानि कीर्त्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः॥**' (महारामायण ५२। ४०) आत्माकी वन्दना करनेसे सारे शरीरको प्रणाम हो चुका। मयङ्ककार लिखते हैं कि ऐसा करनेसे सबको शीघ्र सन्तुष्ट किया।

(घ) श्रीरामनाममें जो रेफ, रेफका अकार, दीर्घाकार, हल मकार और मकारका अकार—ये पञ्च पदार्थ हैं, इनके बिना एक भी मन्त्र, ऋचा वा सूत्र नहीं बनते हैं। (मा० प्र०) वेदोंमें, व्याकरणोंमें जितने

भी वर्ण, स्वर, शब्द हैं वे सब 'राम' नामसे ही उत्पन्न होते हैं। यथा—'**वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः॥**' (महारामायण ५२। ६७)

(ङ) श्रीरामनामके अतिरिक्त जितने भी नाम परमेश्वरके हैं वे सब गुणक्रियात्मक हैं। अर्थात् वे सब गुण दर्शित करनेवाले नाम हैं। जैसे कि—(१) '**व्यापकोऽपि हि यो नित्यं सर्वस्मिञ्च चराचरे। विषप्रवेशने धातोर्विष्णुरित्यभिधीयते॥**' (महारा० ५२। ९०) इस प्रमाणके अनुसार सम्पूर्ण चराचरमें नित्य ही व्यापक होनेसे 'विष्णु' नाम है। '**विश प्रवेशने**' धातुसे '**स्नु**' प्रत्यय लगनेसे विष्णु शब्द निष्पन्न होता है। पुन, (२) नरपदवाच्य परब्रह्मने प्रथम जल उत्पन्न किया इससे जलका नाम 'नार' हुआ। फिर 'नार' में 'अयन' बनाकर रहनेसे उसी परमेश्वरका नाम 'नारायण' (जलमें है स्थान जिसका) हुआ। '**नॄ नये**' धातुसे नर शब्द निष्पन्न होता है। जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार भोगका यथार्थ न्याय करनेसे परमात्माका नाम 'नर' है। यथा—'**नरतीति नरः प्रोक्ता परमात्मा सनातनः**' (मनु) '**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताक्ष्र्यं हि तेन नारायणः स्मृतः॥**'(मनु० १। १०) '**नारास्वप्सु गृहं यस्य तेन नारायणः स्मृतः।**' (महारा० ५२। ८८), '**नराजातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥**' (महाभारत) यही बात श्रीमन्नारायणावतार भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वीकार की है। यथा—'**सृष्ट्वा नारं तोयमन्तःस्थितोऽहं तेन मे नाम नारायणः।**' (महाभारत) पुनश्च '**महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः॥**' (वाल्मी० ७। १०४। ४), यह ब्रह्माजीका वाक्य है। वे कहते हैं कि महार्णवमें शयन करते समय आप (श्रीरामजी) ने मुझको उत्पन्न किया। अथवा, '**जीवनाराश्रयो योऽस्ति तेन नारायणोऽपि च॥**' (महारा० ५२। ८८) इस प्रमाणानुसार 'नार'=जीव, अयन=आश्रय। जीवसमूहका आश्रय अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे धारण होनेसे 'नारायण' नाम है। पुनः, (३) '**कृषिर्भूवाचकश्चैव णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं महाविद्ये कृष्ण इत्यभिधीयते।**' (महारा० ५२। ९१) इस प्रमाणानुसार '**कृ ष**' अवयव भूवाचक अर्थात् सत्ताबोधक है और 'ण' अवयव निर्वृत्तिवाचक है अर्थात् आनन्दबोधक है। ये दोनों अवयव एक होनेपर उनसे कृष्ण शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् सत्तासम्पादक होनेसे कृष्ण नाम है। पुनः, (४) '**सर्वे वसन्ति वै यस्मिन्सर्वस्मिन् वसतेऽपि वा। तमाहुर्वासुदेवं च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥**' (महारा० ८९) इसके अनुसार सम्पूर्ण विश्वका निवास परमेश्वरमें होनेसे अथवा सम्पूर्ण विश्वमें वास होनेसे तत्त्वदर्शी योगी उनको 'वासुदेव' कहते हैं। पुनः, (५) '**कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानां क्लेशनाशनः**' (महारा० ५२। ९२) के अनुसार भक्तोंके क्लेश हरण करनेसे 'हरि' नाम है। पुनः, (६) '**वायुवद्गगने पूर्णं जगतां हि प्रवर्त्तते। सर्वं पूर्णं निराकारं निर्गुणं ब्रह्म उच्यते।**' (महारा० ५२। ९३) इस प्रमाणसे पूरे आकाशमें जैसे वायु वैसे ही सम्पूर्ण जगत्‌में वर्त्तते हुए भी सर्वपूर्ण, निराकार और निर्गुण (अर्थात् सबके गुणोंसे अलग) होनेसे '**ब्रह्म**' नाम है। पुनः, (७) '**भरणं पोषणं चैव विश्वम्भर इति स्मृतः**' अर्थात् विश्वका भरण-पोषण करनेसे '**विश्वम्भर**' नाम है। (महारा० ५२। ९२) पुनः, (८) '**यस्यानन्तानि रूपाणि यस्य चान्तं न विद्यते। श्रुतयो यं न जानन्ति सोऽप्यनन्तोऽभिधीयते॥**' (९४) के प्रमाणसे प्रभुके रूप, गुणादि अनन्त होनेसे, उनका अन्त किसीके न पा सकनेसे, श्रुति भी उनको साङ्गोपाङ्ग नहीं जान सकती इत्यादि कारणोंसे 'अनन्त' नाम है। पुनः, (९) '**यो विराजस्तनुर्नित्यं विश्वरूपमथोच्यते।**' (महा रा० ५२। ९५) अर्थात् विराट् विश्व उनका शरीर होनेसे 'विश्वरूप' कहे जाते हैं। (१०) इसी प्रकार चौंसठों कलाएँ उनमें स्थिर होनेसे 'कलानिधि' नाम है। इत्यादि सब नाम गुणार्थक हैं।

महारामायणमें शिवजी कहते हैं कि समस्त नामोंके वर्ण रामनाममय हैं अर्थात् रामशब्दजन्य हैं, अतएव रमु क्रीडा जनक 'राम' शब्द सब नामोंके ईश्वर हैं। यथा—'**रामनाममया सर्वे नामवर्णा प्रकीर्त्तिताः। अतएव रमु क्रीडा नाम्नामीशः प्रवर्त्तते॥**' (५२। १०२)

☞ भगवान्‌के सभी नाम सच्चिदानन्दरूप हैं। तथापि 'राम' नाममें और अन्य नामोंसे कुछ विशेषता है। वह यह कि श्रीरामनामके तीनों पदों 'र, अ, म' में सच्चिदानन्दका अभिप्राय स्पष्ट झलकता है।

श्रीरामनाममें सच्चिदानन्दका अर्थ सत्य ही ज्यों-का-त्यों है, अन्य नामोंमें यथार्थतः 'सच्चिदानन्द' का अर्थ घटित नहीं होता। किसीमें 'सत् और आनन्द' मुख्य हैं, चित् गौण है; किसीमें 'सत्-चित्' मुख्य हैं, आनन्द गौण है और किसीमें चित्-आनन्द मुख्य हैं, सत् गौण है। प्रमाण—**'सच्चिदानन्दरूपैश्च त्रिभिरेभिः पृथक् पृथक्॥ वर्तते रामनामेदं सत्यं दृष्टा महेश्वरि॥ नामान्येतान्यनेकानि मया प्रोक्तानि पार्वति॥ कस्मिंश्चिन्मुख्य आनन्दः सत्यं च गौणमुच्यते। कस्मिंश्चित् चित्सतौ मुख्यौ गौणं चानन्दमुच्यते॥'** (महारामायण ५२। १७—१९) श्रीरामनामके तीन पदोंमें सत्, चित्, आनन्द तीनोंके अर्थका प्रमाण। यथा—**'चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्योकार उच्यते। मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम्॥'** (महारामायण), अर्थात् रकार चित्का, अकार सत्का और मकार आनन्दका वाचक है, इस प्रकार 'राम' यह नाम सच्चिदानन्दमय है। (५२। ५३) नाम-नामीका तादात्म्य होनेसे रा० पू० ता० उप० की श्रुति, **'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥'** (१।६) भी प्रमाण है; क्योंकि 'राम' पदका अर्थ ही यह श्रुति है।

(च) अन्तकालमें कोई शब्द जिसके अन्तमें 'राम' हो, उच्चारण करनेसे तुरन्त मुक्ति होनेके प्रमाण अनेक मिलते हैं। 'हराम', 'चराम', 'तराम' आदि कहकर लोग मुक्त हुए। इस प्रकारके नामाभासमात्रके प्रतापसे मुक्ति भगवान्के अन्य किसी नाममें नहीं सुनी जाती। 'नारायण' नामसे अजामिल यमदूतके बन्धनसे छूट गया, ज्ञानोदय हो गया, उसके पश्चात् तप आदिमें प्रवृत्त होनेपर उसकी मुक्ति हुई।

(छ) 'राम' नामका एक-एक अक्षर भी कोई-कोई जपते हैं। उसके एक-एक अक्षरका भारी महत्त्व है। रम् रम्, राम-राम आदि तो व्याकरणसे शुद्ध ही हैं, इनके जपनेकी कौन कहे उलटे नामकी महिमा 'मरा-मरा' जपनेके महत्त्वसे वाल्मीकिजी ब्रह्मसमान हो गये। ऐसा उदाहरण किसी अन्य भगवन्नाममें सुना नहीं जाता। किसी अन्य नामके समस्त वर्णोंकी पृथक्-पृथक् ऐसी महिमा नहीं गायी गयी है जैसी श्रीरामनामके प्रत्येक वर्ण ही नहीं बल्कि प्रत्येक कला और निर्वर्ण अक्षरोंकी।

(ज) प्रणव ॐ वेदोंका तत्त्व कहा गया है परन्तु अथर्वशिरस्की **'य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते''''' स प्रणवानामयुतं जपं भवति'** (उ०३। ७) यह श्रुति कहती है कि जिस ब्राह्मणने अथर्वशिरस् उपनिषद्का अध्ययन किया, वह दस हजार प्रणव जप चुका। इस श्रुतिके अनुसार प्रणवका महत्त्व अथर्वशिरस्से न्यून है। परन्तु राममन्त्रके लिये ऐसा न्यूनत्वद्योतक कोई वाक्य किसी श्रुतिमें नहीं मिलता। अपितु **'य एवं मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते।''''' तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि सफलानि भवन्ति''''' प्रणवानामयुतकोटिजप्ता भवन्ति।'** (रा० उ० ता०) अर्थात् जो कोई श्रीराम षडक्षर मन्त्रराजका नित्य जप करता है वह करोड़ों बार इतिहास, पुराण और रुद्रपरक (अथर्वशिरस्) उपनिषदोंका अध्ययन कर चुका''''' वह दस हजार करोड़ प्रणवका जप कर चुका। इस श्रुतिमें स्पष्टरूपसे राममन्त्रकी सर्वोत्कृष्टता बतायी गयी है।

(झ) प्रणवमें शूद्रोंका अधिकार न होनेसे प्रणव उन सबोंको अलभ्य है। प्रणव उन्हें कृतार्थ नहीं कर सकता। अतः इतने अंशमें प्रणवकी उत्कृष्टताका व्यर्थ होना सबको स्वीकार करना पड़ेगा। और प्रणवका कारणभूत रामनाम काशीमें मरनेवाले जन्तुमात्रको मोक्ष देता है। अतः प्राणिमात्रका इसमें अधिकार होनेसे यह सौलभ्यगुणमें भी सर्वश्रेष्ठ है।

(ञ) श्रीवसिष्ठजीने यह कहते हुए भी कि इनके अनेक नाम हैं फिर भी 'राम' ही नाम विचारकर रखा। यथा—***'करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा॥ इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥'*** (१।१९७) इससे निस्सन्देह निश्चय है कि प्रभुके सब नामोंमें यही श्रेष्ठ नाम है। नारदजी, शिवजी इत्यादि मुनियों और देवताओंका भी यही सिद्धान्त है। यथा—***'जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥' 'राम सकल नामन्ह ते अधिका।''''' राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥'*** (आ० ४२) महारामायणमें

शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि जैसे देवताओंमें इन्द्र, मनुष्योंमें राजा, अखिल लोकोंके मध्य गोलोक, समस्त नदियोंमें श्रीसरयूजी, कविवृन्दोंमें अनन्त, भक्तोंमें श्रीहनुमान्‌जी, शक्तियोंमें श्रीजानकीजी, अवतारोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी, पर्वतोंमें सुमेरु, जलाशयोंमें सागर, गौओंमें कामधेनु, धनुर्धारियोंमें कामदेव, पक्षियोंमें गरुड़, तीर्थोंमें पुष्कर, धर्मोंमें अहिंसा, साधुत्वप्रतिपादनमें दया, क्षमावालोंमें पृथ्वी, मणियोंमें कौस्तुभ, धनुषोंमें शार्ङ्ग, खड्गोंमें नन्दक, ज्ञानोंमें ब्रह्मज्ञान, भक्तिमें प्रेमाभक्ति, मन्त्रसमूहमें प्रणव, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, सप्तपुरियोंमें अयोध्यापुरी, वेदविहित कर्मोंमें भगवत्सम्बन्धी कर्म, स्वरसंज्ञक वर्णोंमें अकार श्रेष्ठ है; वैसे ही भगवान्‌के समस्त नामोंमें श्रीरामनाम परम श्रेष्ठ है—'**निर्जराणां यथा शक्रो नराणां भूपतिर्यथा।**' से '**किमत्र बहुनोक्तेन सम्यग्भगवतः प्रिये। नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम परं महत्॥**' (५२। ७७ से ८५ तक) देवर्षि नारदजीने श्रीरामनामके सर्वश्रेष्ठ होनेका वरदान ही माँग लिया; अतएव सर्वश्रेष्ठ जानकर इसीकी वन्दना की।

(ट) यही नाम श्रीमहादेवजी एवं श्रीहनुमान्‌जीका सर्वस्व और जीवन है; ब्रह्मादिक देवताओंकी कौन कहे श्रीनारायणादि अवतार भी इस नामको जपते हैं, श्रीकृष्णभगवान्‌ने अर्जुनजीसे श्रीरामनामके महत्त्वको विस्तारसे वर्णन करते हुए यही कहा है कि हम श्रीरामनाम जापकके फलको नहीं कह सकते, हम उनको भजते और प्रणाम करते हैं। यथा—'**रामस्मरणमात्रेण प्राणान्मुञ्चन्ति ये नराः। फलं तेषां न पश्यामि भजामि तांश्च पार्थिव॥**', '**गायन्ति रामनामानि सततं ये जना भुवि। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यः पुनः पुनः॥**' इत्यादि वचन कहकर अर्जुनजीको श्रीरामनाम जपनेका उपदेश दिया और पुनः यह भी कहा कि हम भी 'राम' नाम जपते हैं। यथा—'**तस्मान्नामानि कौन्तेय भजस्व दृढचेतसा। रामनामसदायुक्तास्ते मे प्रियतमाः सदा॥**', '**रामनाम सदा प्रेम्णा संस्मरामि जगद्गुरुम्। क्षणं न विस्मृतिं याति सत्यं सत्यं वचो मम॥**' (आदिपुराण। 'श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश' से उद्धृत) श्रीकृष्णभगवान्‌के श्रीमुखवचनसे भी और अधिक प्रमाण श्रीरामनामके सर्वोपरि होनेका क्या हो सकता है! श्रीरामचन्द्रजीका भी वचनामृत इस नामके महत्त्वपर है। यथा—'***मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥***' (उ० ४६) वक्ता 'राम' हैं।

(ठ) सौलभ्य, उदारता, दयालुतादि गुण, जैसे इस नामके स्वरूपमें प्रकट हुए वैसे किसी और अवतारमें नहीं हुए। यथा—'***हरिहु और अवतार आपने, राखी बेद-बड़ाई।***' (विनय० १६३)

(ड) और अवतार जिस कारणसे हुए वह कार्य करके शीघ्र ही लुप्त हो गये पर 'राम' रूपमें कार्य करके फिर भी हजारों वर्ष पृथ्वीपर रहकर प्रभुने जगत्‌को कृतार्थ किया, चक्रवर्ती महाराजा होकर सबकी मर्यादा रखते हुए जगत्‌का पालन किया।

(ढ) दाशरथी श्रीरामजी ही ग्रन्थकारके उपास्यदेव हैं, अतः श्रीरामनामकी वन्दना स्वाभाविक ही उन्होंने की और उनका दृढ़ विश्वास है कि यही नाम सर्वश्रेष्ठ है।

(ण) आगे नौ दोहोंमें सब रामनामकी विशेषता ही है।

☞ यह नामवन्दनाप्रकरण है। इसमें रामनामकी महिमा नौ दोहोंमें गायी गयी है। जब किसीकी श्रेष्ठता दर्शानी होती है तो अवश्य प्रसङ्गवश कुछ दूसरोंकी न्यूनता कथनमें आ ही जाती है पर वह किसी बुरे भावसे नहीं होती। भगवान्‌के सभी नाम, सभी रूप सच्चिदानन्दरूप हैं, सभी चित्तके प्रकाशक हैं, सभी श्रेष्ठ हैं। अतः न्यूनाधिक्य वर्णनसे अन्य नामोंके उपासक मनमें कोई द्वेषभाव न समझें।

नोट—१ श्रीरामनामवन्दनाप्रकरण यहाँसे उठाकर कविने प्रथम तो नामकी वन्दना की। अब आगे नौ दोहोंमें नामके स्वरूप, अंग और फल कहेंगे। इसलिये इस प्रथम दोहेमें सूक्ष्म रीतिसे इन तीनोंको कहकर फिर आठ दोहोंमें इन्हींको विस्तारपूर्वक कहेंगे। '*हेतु कृसानु*……' यह नामका स्वरूप है।

'***हेतु कृसानु भानु हिमकर को***' इति। 'हेतु' के प्रधान दो अर्थ हैं, कारण (आदिकारण) और बीज। यथा—'**हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्**' (अमरकोश १। ४। २८) मानसपरिचारिकाकारके मतानुसार

भूतकारण और बीजकारण, विशेष कारण और सामान्य कारण—ये कारणके भेद हैं। कारणके दो भेद निमित्त और उपादान भी हैं। जैसे, कुम्हार निमित्त है और मिट्टीके बरतनोंका उपादान कारण मिट्टी है; क्योंकि मिट्टी स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाती है। इनके अतिरिक्त साधारण वा सहाय कारण भी कोई-कोई मानते हैं जैसे कुम्हारका चाक, डण्डा, जल आदि।

श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका हेतु कहकर यह जनाया है कि इन तीनोंके कारण श्रीरामनाम हैं और ये तीनों कार्य हैं।

प्रथम चरण (पूर्वार्ध) में श्रीरामनामकी वन्दना करके उत्तरार्धमें इस महामन्त्रका अर्थ कहते हैं। '*हेतु कृसानु भानु*......' इत्यादि 'राम' नामका अर्थ वा गुण है। श्रीरामनामको कृशानु आदिका हेतु कहकर जनाया कि—(क) अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा—ये तीनों तेजस्वी हैं। संसारमें परम ज्योतिष्मान् ये ही तीन हैं। इनके हेतु श्रीरामनाम हैं अर्थात् श्रीरामनामके तेजसे ही ये तीनों तेजस्वी हुए। नामके एक-एक अक्षरसे इन्होंने तेज पाया है। सम्पूर्ण नामका तेज किसीमें नहीं है। (पं० रामकुमारजी) श्रुतियोंने कहा है—'**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।**' (छां० ३। १३। ७) अर्थात् लोकपरलोक उभय विभूतिमें जो कुछ भी ज्योति है (कहीं भी जो कोई ज्योतिष्मान् हैं।) उन सबकी ज्योतिके कारण श्रीरामजी हैं। इसी तरह इस चौपाईमें इनका हेतु कहकर श्रीरामनामको परब्रह्म कहा। (वे० भू० रा० कु०)

(ख) कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। 'राम' नामसे इनकी उत्पत्ति है। यथा—'**चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥**' (यजुर्वेद पुरुषसूक्त), '*नयन दिवाकर कच घनमाला।*...... *आनन अनल*......*॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।*' (६।१५) (पं० रामकुमारजी)

नोट—नाम-नामीमें अभेद वा तत्त्वकारणके विचारसे ये प्रमाण दिये गये हैं।

(ग) बीजकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके तीनों अक्षर (र, अ, म) क्रमशः इन तीनोंके बीजाक्षर हैं। 'र' अग्निबीज है, 'अ' भानुबीज है और 'म' चन्द्रबीज है। यथा—'**रकारोऽनलबीजं स्याद्ये सर्वे वाडवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्॥**', '**अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या याऽविद्या हृदये तमः॥**', '**मकारश्चन्द्रबीजं च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥**' (महारामायण ५२। ६२, ६३, ६४) अर्थात् 'र' अग्निबीज है। जैसे अग्नि शुभाशुभ वस्तुओंको जलाकर भस्म कर देता है और कुल वस्तुओंका मल तथा दोष जलाकर उनको शुद्ध बना देता है, वैसे ही 'र' के उच्चारणसे भी दो कार्य यहाँ कहे, एक यह कि उसके उच्चारणसे शुभाशुभ कर्म नष्ट होते हैं जिसका फल स्वर्ग-नरकका अभाव है, दूसरे यह कि मनके मल-विषयवासनाओंका नाश हो जाता है, स्वस्वरूप झलक पड़ता है। यहाँ कार्यसे कारणमें विशेषता दिखायी। अग्निसे जो कार्य नहीं हो सकता वह भी उसके बीजसे हो जाता है। 'अ' भानुबीज है, वेदशास्त्रोंका प्रकाशक है। जैसे सूर्य अन्धकारको दूर करता है, वैसे ही 'अ' से हृदयमें मोह आदि जो अविद्यातम है, उसका नाश (होकर ज्ञानका प्रकाश) होता है। 'म' चन्द्रबीज है, अमृतसे परिपूर्ण है। जैसे चन्द्रमा शरदातपको हरता है, शीतल करता है वैसे ही 'म' से (भक्ति उत्पन्न होती है जिससे) त्रिताप दूर होते हैं, हृदयमें शीतलतारूपी तृप्ति प्राप्त होती है। जो गुण इस श्लोकमें कहे गये हैं उनसे यह सारांश निकलता है कि 'र', 'अ', 'म' क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्तिके उत्पादक हैं। प्रमाण यथा—'**रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥**' (महारामायण) इस प्रकार इस चौपाईका तात्पर्य यह है कि मनोमल तथा शुभाशुभ कर्मोंका भस्म होना, वैराग्य, वेदशास्त्रादिमें प्रवेश, अज्ञाननाश, ज्ञानप्राप्ति, भक्ति तथा त्रितापशान्ति इत्यादि सब श्रीरामनामसे ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः इन सब वस्तुओंकी चाह रखनेवालोंको श्रीरामनामका जप करना चाहिये। श्रीमद्गोस्वामीजीने 'राम' नाममें अग्नि, सूर्य

और चन्द्रमाकी क्रियाओं और गुणोंका लक्ष्य इस ग्रन्थमें भी दिया है। अग्निका गुण, यथा—'*जासु नाम पावक अघ तूला*' (२।२४८) सूर्यका गुण, यथा—'*जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा*' (१।११६) चन्द्रमाका गुण, यथा—'*राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम।*' (३। ४२) (रा० प्र०, पां०, मा० प्र०, वै०, करु०)

(घ) अग्निका प्रकाश दोनों संध्याओंमें; सूर्यका प्रकाश दिनमें और चन्द्रमाका प्रकाश रात्रिमें होता है (एक-एक अक्षरके प्रतापसे) और रामनामका प्रकाश सदा रहता है। यह भाव तीनों बीजोंसे जनाया (रा० प०) ऊपर (ग), (घ) से यह निष्कर्ष निकला कि 'राम' नामके एक-एक अक्षर भी इन तीनोंसे विशेष हैं, तब पूरे 'राम' नामकी महिमा क्या कही जाय? पुनः ये तीनों केवल सांसारिक सुख देते हैं और 'राम' नामके वर्ण इहलोक और परलोक दोनों बना देते हैं। वैराग्य, ज्ञान और भक्ति देनेकी शक्ति कार्यमें नहीं है।

(ङ) पं० श्रीकान्तशरणजीने '**हेतु कृसानु**……' पर एक भाव यह लिखा है कि 'श्रीरामनाम अग्नि आदि तीनोंका कारण है, मूल है और जिह्वापर इन्हीं तीनोंका निवास भी है। यथा—'**जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥**' (योगी याज्ञवल्क्य) अतः जिह्वासे इन तीनों वर्णात्मक श्रीरामनामके जपनेसे अपने-अपने मूलकी प्रकाशप्राप्तिसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाद्वारा होनेवाले उपर्युक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्तिका पूर्ण विकास होता है, तब वैराग्यद्वारा अन्तःकरणशुद्धिसे कर्मदोष, ज्ञानद्वारा गुणातीत होनेसे गुणदोष और भक्तिद्वारा कालदोष निवृत्त होता है।'

रेखाङ्कित अंशपर यह शङ्का होती है कि 'क्या सामान्य अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके द्वारा वैराग्य, ज्ञान और भक्ति उत्पन्न होती है?' जिस प्रमाण '**रकारहेतुर्वैराग्यं**……' के आधारपर यह कहा जा रहा है उसके अनुसार तो 'र, अ, म' ही वैराग्यादिके उत्पादक हैं, न कि अग्नि आदि। यदि अग्नि आदि वैराग्यादिके कारण नहीं हैं, तब और जो कुछ इसके आधारपर लिखा गया, वह सब विचारणीय ही है। हाँ ! योगी याज्ञवल्क्यके वचनके आधारपर एक भाव यह हो सकता है कि जिह्वापर जब कि इन देवताओंकी स्थिति है तब अन्य नामोंकी अपेक्षा ये तीनों देवता अपने बीजरूपी इस नामके उच्चारणमें अवश्य ही साहाय्य होंगे। योगी याज्ञवल्क्य नामकी दो-तीन पुस्तकें हमारे देखनेमें आयीं। उनमें यह श्लोक नहीं है।

(च) 'राम' नामको बीजकारण कहनेपर यह शङ्का हो सकती है कि 'जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न करके वृक्षमें लीन हो जाता है, मूसाकर्णी बूटी आदि ताँबेको सोना करके उसीमें लीन हो जाती है, मिट्टी घट बनाकर तद्रूप हो जाती है। बीजकी अलग सत्ता नहीं रह जाती, वह कार्यमें लीन हो जाता है। इसी तरह 'र', 'अ', 'म' कृशानु आदिको उत्पन्न करके उसीमें लीन हो गये, तब 'राम' नामकी वन्दना कैसे होगी, उसकी तो अलग सत्ता ही नहीं रह गयी? वन्दना तो अब होनी चाहिये '*कृसानु भानु हिमकर*' की?' तो इसका समाधान यह है कि कारण भी दो प्रकारका है, एक विशेष, दूसरा सामान्य। सामान्य कारण कार्यमें लीन हो जाता है, जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न कर उसीमें लीन हो जाता है, इत्यादि। विशेष कारण अनेक कार्य उत्पन्न करके भी अपने कार्योंसे सर्वथा अलग एवं पूर्ण ज्यों-का-त्यों बना रहता है, जैसे पारस अनेकों लोहोंको सोना बनाकर फिर भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है; माता-पिता अनेकों सन्तानें उत्पन्न कर उनसे सर्वथा पृथक् रहते हैं इत्यादि। इसी प्रकार श्रीरामनाम विशेष कारण हैं, अनेकों अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिकी क्या, अनन्त ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करके भी स्वयं ज्यों-के-त्यों पूर्ण एवं सर्वथा अलग बने रहते हैं। (करुणासिन्धुजी, मा० प्र०) अथवा कारणके दो भेद हैं—निमित्त कारण और उपादान कारण। श्रीरामनाम निमित्त कारण हैं। जैसे कुम्हार मृत्तिकाके अनेक पात्र बनाकर उनसे अलग रहता है, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, वैसे ही श्रीरामनामको समझिये।

(छ) भूतकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके अक्षर 'र', अ, म' जो कृशानु आदिके बीज अक्षर हैं यदि उनमेंसे निकाल डाले जायँ तो ये निरर्थक हो जायँगे। अर्थात् कृशानुमेंसे 'रकार' जो बीजरूपसे उसके भीतर है, भानुमेंसे 'अकार' और हिमकरमेंसे 'मकार' निकाल लें तो 'कशानु', 'भनु' और 'हिकर' रह जाते हैं। भाव यह है कि जैसे र, अ, म के बिना कृशानु आदिका शुद्धोच्चारण नहीं हो सकता वैसे ही 'र' के बिना अग्निमें दाहकशक्ति, 'अ' बिना भानुमें प्रकाशकी शक्ति और 'म' बिना हिमकरमें त्रितापहरणकी शक्ति नहीं रह सकती। तीनोंमें यह शक्ति रामनामसे ही है (मा० प्र०, रा० प्र०, पां०, रा० बा० दा०)*

नोट—२ श्रीरामनामको संसारके परम तेजस्वी, परम हितकारी आदि इन तीनों वस्तुओंका कारण कहकर 'नाम' की शक्ति और महत्त्वका किञ्चित् परिचय दिया है। कार्यके द्वारा कारणका गुण दिखाया है। तीनों कार्योंका बल कैसा है सो सुनिये। अग्निका बल, यथा—*'काह न पावकु जारि सक।'* (२। ४७), सूर्यका बल, यथा—*'उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।'* (१।२३९) चन्द्रमाका बल, यथा—*'सरदातप निसि ससि अपहरई।'* (४।१७) पुनः, अग्नि आदि तीनों जगत्का पोषण करते हैं। अग्नि भोजनको पकाता, जठराग्नि भोजन पचाकर शरीरको पुष्ट करता, शीतसे बचाता, यज्ञादिद्वारा देवोंका पालन करता है इत्यादि। सूर्य तमनिवारणद्वारा संसारकी रक्षा, कर्मकाण्डमात्रकी रक्षा, जलशोषण एवं मेघद्वारा संसारको जल देकर, अन्न, औषध आदि उपजाकर प्राणिमात्रका पोषण करता है, अनेक रोगोंका नाश करता है इत्यादि। चन्द्रमा अमियमय किरणोंसे ओषधियों आदिको पुष्ट और कामके योग्य बनाता है, शरदातप हरता है इत्यादि। सूर्य और चन्द्रके बिना जगत्का पोषण असम्भव है। यथा—*'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।'* (१।२०) अस्तु। जब कार्यमें ऐसे गुण हैं कि बिना उनके सृष्टिमें जीवन असम्भव है तब तो फिर कारणका प्रताप न जाने कितना होगा!

नोट—३ इनका कारण कहकर रामनामको सूर्यसे अनन्तगुणा तेजस्वी, चन्द्रमासे अनन्तगुणा अमृतस्रावी एवं तापहारक और अग्निसमान सबको अत्यन्त सुलभ जनाया। पुनः यह भी सूचित किया कि कृशानु आदि तीनोंका व्रत, तीनोंकी उपासना एक साथ ही केवल रामनामकी उपासनासे पूरी हो जाती है। रामनामोच्चारणसे ही इन सबोंकी सेवा-पूजाका फल प्राप्त हो जाता है। अतः इसीमें लग जाना उचित है।

नोट—४ बाबा जानकीदासजी यह प्रश्न उठाकर कि 'रामनामका इतना बड़ा विशेषण देकर वन्दना करनेमें क्या हेतु है?' उसका उत्तर यह देते हैं कि—(क) गोस्वामीजी तुरत शुद्धि चाहते हैं पर तुरत शुद्धि न तो ज्ञान, वैराग्य, योगसे और न भक्तिसे हो सकती है और बिना शुद्धि श्रीरामचरित-गान करना असम्भव है। तब उन्होंने विचार किया कि रामनामके कार्य अग्नि आदिमें जब इतने गुण हैं तब स्वयं रामनाममें न जाने कितना गुण और महत्त्व होगा। रामनाम हमारे शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर हमारे मन और मतिको रामचरित गाने योग्य तुरत बना देगा। यह सोचकर उन्होंने 'राम' नामकी इन विशेषणोंद्वारा वन्दना की। इसपर यह शङ्का होती है कि 'यह काम तो 'र' से ही हो जाता है, 'अ', 'म' की वन्दनाका प्रयोजन ही क्या रह गया?' समाधान यह है कि अग्निमें थोड़ा प्रकाश होता है। 'र' से शुभाशुभ कर्म भस्म हुए, स्वस्वरूप, परस्वरूप झलक पड़ा, उसे भले ही ध्यान किया करें पर रामचरित बिना पूर्ण प्रकाशके नहीं सूझ पड़ता। भानुबीज 'अ' से अविद्यारूपी रात्रि हटेगी तब वेदशास्त्रका यथार्थ तत्त्व देख पड़ेगा तब रामचरित (जो श्रुतिसिद्धान्तका निचोड़ है) अग्नि और वैराग्यकी एक क्रिया है। 'र' वैराग्यका कारण है। सूर्य और ज्ञानकी एक क्रिया है। 'अ' ज्ञानका कारण है। जैसे अग्नि और सूर्यमें उष्णता है वैसे

* मा० प्र० कारने 'हेतु' का एक अर्थ 'प्रिय' भी लेकर उत्तरार्धका अर्थ यह किया है कि 'हिमकर' (=जो हिम अर्थात् जाड़ाको करे= अगहन, पौष मास) को अग्नि और सूर्य बहुत प्रिय हैं वैसे ही अहं—ममरूप अगहन-पौषमें जडतारूपी जाड़ा लग रहा है उसमें रामनामरूपी कृशानु भानु जडता हरण करता है अतः प्रिय है।

ही वैराग्य और ज्ञानमें 'अहंता' रूपी उष्णता है। अहङ्कार रहेगा तब चरित कैसे सूझेगा? अहङ्कारको भक्ति शान्त कर देती है। चन्द्र और भक्तिका एक-सा कर्म है। 'म' भक्तिका कारण है। अतः 'र, अ, म' तीनोंकी वन्दना की। इसपर पुनः शङ्का होती है कि चन्द्रमाके प्रकाशमें तो सूर्यका अभाव है वैसे ही 'म' के उदयमें 'अ' का अभाव होगा? नहीं, दृष्टान्तका एक देश ही लिया जायगा। पुनः, जैसे चन्द्रमणिको अग्नि वा सूर्यके सामने रखनेसे प्रकाश तो वैसा ही बना रहता है पर उष्णता हरण हो जाती है। वैसे ही 'र, अ, म' कारण और वैराग्य, ज्ञान, भक्ति एक साथ बने रहते हैं। अथवा, (ख) यद्यपि 'रकार' की ही वन्दनासे शुभाशुभ कर्म भस्म हो गये तथापि रामभक्त पूरा नाम ही जपते हैं, जिससे पराभक्तिको प्राप्त कर सामीप्य पाते हैं। प्रमाण यथा—**'रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वे मोक्षरूपिणः॥' 'पूर्णनाम मुदा दासा ध्यायन्त्यचलमानसाः। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपकम्॥'** (महारामायण ५२। ६९-७०)

बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥२॥

शब्दार्थ—**अगुन** (अगुण)=मायिक गुणोंसे रहित। =सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंसे परे। **अनूपम**=उपमा-रहित, जिसकी कोई उपमा है ही नहीं। **गुननिधान**=भक्तवात्सल्य, कृपा, शरणागतपालकत्व, करुणा, कारणरहित कृपालुता आदि दिव्य गुणोंके खजाना वा समुद्र। **सो**=वह।=सदृश, समान।

नोट—इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं।

अर्थ—१ वह (श्रीरामनाम) विधिहरिहरमय हैं, वेदोंके प्राण हैं, मायिक गुणोंसे परे, उपमारहित और दिव्य गुणोंके निधान हैं॥२॥

अर्थ—२ 'वह श्रीरामनाम विधिहरिहरमय वेदके भी प्राण हैं।' (श्रीरूपकलाजी)

अर्थ—३ 'श्रीरामनाम वेदप्राण (ओंकार) के समान ही विधिहरिहरमय हैं और तीनों गुणोंसे परे, (अर्थात् मायासे परे) हैं और अनुपम गुणोंके खजाना हैं।' (लाला भगवानदीनजी)

अर्थ—४ श्रीरामनाम विधिहरिहरमय हैं, वेदप्राण (प्रणव) के समान हैं""। (पं० रामकुमारजी)

अर्थ—५ (उत्तरार्धका अर्थ पं० शिवलाल पाठकजी यह करते हैं) 'अगुण (ब्रह्म), अनुपम (जीव) और गुणनिधान (माया) तद्रूप है।'

नोट—*'बिधिहरिहरमय'* इति। 'मय' तद्धितका एक प्रत्यय है जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है। उदाहरण—(१) तद्रूप—*'सियाराममय सब जग जानी'।* (२) विकार—*'अमिय मूरिमय चूरन चारू'।* (३) प्राचुर्य—*'मुदमंगलमय संत समाजू।'* (श० सा०)

श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामनामके सम्बन्धमें 'मय' पद दोहावलीमें भी दिया है। यथा—*'जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥'* (दोहा २९) इस दोहेको 'मय' के अर्थके लिये प्रमाण मानकर *'बिधिहरिहरमय'* का आशय यह होता है कि—(१) श्रीरामनाम ही मानो विधिहरिहररूप हैं कि जिनसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, श्रीरामनामहीसे त्रिदेवमें यह शक्तियाँ हैं (जैसे बीज बिना पृथ्वीके वृक्ष, अन्न इत्यादि उत्पन्न नहीं कर सकता)। प्रमाण यथा—**'रामनाम-प्रभावेण स्वयंभूः सृजते जगत्। बिभर्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥'** (महाशम्भुसंहिता) (२) जैसे आकाशमें अगणित तारागण स्थित हैं; कितने हैं कोई जान नहीं सकता; वैसे ही रामनाममें अगणित ब्रह्माण्ड एवं अगणित ब्रह्मा-विष्णु-शिव स्थित हैं, श्रीरामनामके अंशहीसे सब उत्पन्न होते हैं, मानो श्रीरामनाम इन सबोंसे परिपूर्ण हैं यथा—**'रामनामांशतो याता ब्रह्माण्डाः कोटि कोटिशः।'** (पद्मपुराण) 'राम' नामके केवल 'र' से त्रिदेवकी उत्पत्ति है। यथा—**'रकाराज्जायते ब्रह्मा रकाराज्जायते हरिः। रकाराज्जायते शम्भू रकारात्सर्व-शक्तयः।'** (पुलहसंहिता) *'अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयम्।'* (१।८५) में भी 'मय' इसी (अर्थात् परिपूर्णके) भावमें आया है। पं० रामकुमारजीभी लिखते हैं कि 'रामनाम ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति-पालन-संहारके लिये ब्रह्मा-विष्णु-महेशको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार नामहीसे समस्त ब्रह्माण्डके

व्यवहार होते हैं।' (३) जैसे रामनाम जपनेसे सब धर्म और धर्मफल प्राप्त होते हैं, वैसे ही विधिहरिहरकी सेवासे जो फल प्राप्त होते हैं, वे केवल श्रीरामनामहीके जपसे प्राप्त हो जाते हैं और त्रिदेव भी स्वयं जापकके पास आ प्राप्त होते हैं, जैसे श्रीमनु-शतरूपाजीने नामसुमिरनहीसे तप प्रारम्भ किया तो त्रिदेव बारम्बार उनके पास आये कि वर माँगो। पुन:, (४) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'मय' दो प्रकारका होता है, एक तादात्मक, दूसरा बाहुल्यमय (जिसे 'मानस-परिचारिका' में प्रचुरात्मक कहा है)। गुण और स्वरूपकी जब एकता होती है तब उसे तादात्मक कहते हैं। जैसे, सेना मनुष्यमय है, गाँव घरमय है, पट सूत्रमय है, लवण खारमय है, घट मृत्तिकामय है, कण्ठा स्वर्णमय है इत्यादि। जब गुण और स्वरूप भिन्न होते हैं तब बाहुल्यमय वा प्रचुरात्मक कहते हैं, जैसे मणि द्रव्य-अन्न-गज-वाजि-वस्त्रादिमय है। यथा—***'असन, बसन, पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे।'*** (विनय० १२४) अर्थात् मणि बहुमूल्य होनेके कारण उससे द्रव्य अन्नादिक प्राप्त हो सकते हैं मानो ये सब वस्तुएँ मणिमें स्थित हैं; पण्डित विद्यामय, सन्त दिव्यगुणमय इत्यादि। जब विधिहरिहर गुणोंसे परे शुद्धरूप हैं तब श्रीरामनाम विधिहरिहरतदात्मकमय हैं और जब गुणोंको धारण करके सृष्टि रचते हैं तब प्रचुरात्मकमय हैं। 'रामनाम' में अनेक ब्रह्माण्ड हैं, प्रति ब्रह्माण्डमें विधिहरिहर हैं। इसलिये मणिद्रव्यादिमयके अनुसार श्रीरामनामको 'विधिहरिहर' बाहुल्यमय कहा। (५) पं० रामकुमारजी 'विधिहरिहरमय' के भावपर यह श्लोक देते हैं—**'रुद्रोऽग्निरुच्यते रेफो विष्णुः सोमो म उच्यते। तयोर्मध्ये गतो ब्रह्मा आकारो रविरुच्यते॥ रश्च रामेऽनिले वह्नौ रश्च रुद्रे प्रकीर्त्तितः। आकारस्तु पितामहो मश्च विष्णौ प्रकीर्त्तितः।'** (एकाक्षर १-२) अर्थात् रुद्र और अग्नि रेफसे, विष्णु और सोम मकारसे और ब्रह्मा तथा सूर्य मध्यके आकारसे उत्पन्न होते हैं । १। रकारसे राम, पवन, अग्नि और रुद्रका ग्रहण होता है। आकारसे पितामह (ब्रह्मा) और मकारसे विष्णुका ग्रहण होता है।

नोट—१ त्रिदेव त्रिगुणसे उत्पन्न हैं और तीनों गुण धारण किये हैं। रामनाम विधिहरिहरमय हैं। इससे यह शङ्का होती है कि 'रामनाम' भी त्रिगुणमय हैं। इसीलिये उत्तरार्धमें कहते हैं कि ये अगुण हैं, सबके कारण होते हुए भी सबसे पृथक् हैं, तीनों गुणोंसे परे हैं। (पं० रा० कु०)

'बेद प्रान सो' इति। (१) प्रान=सार, तत्त्व, आत्मा। श्रीरामनाम वेदके सार, तत्त्व, आत्मा हैं। यथा—***'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥'*** (१।१०), ***'धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेद तत्व नृप तव सुत चारी॥'*** (१।१९८), **'त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः परात्परः॥'** **'सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।'** **'संस्कारास्त्वभवन्वेदा नैतदस्ति त्वया विना।'** (वाल्मीकीय युद्धकाण्ड सर्ग ११७ श्लोक १९, १८, २५। चतुर्वेदीके संस्करणमें यह सर्ग १२० है)

(२) करुणासिन्धुजी 'रामनाम' को 'वेदप्राण' कहनेका भाव यह कहते हैं कि 'जैसे शरीरमें प्राण न रहनेसे शरीर बेकार हो जाता है, वैसे ही वेदकी कोई ऋचा, सूत्र, मन्त्रादिकी स्थिति बिना रामनामके पञ्चपदार्थ (रेफ, रेफका आकार, दीर्घाकार, हल् मकार, मकारका अकार) के हो ही नहीं सकती; क्योंकि सब स्वर-वर्णादि श्रीरामनामहीसे उत्पन्न हुए हैं, यथा—**'वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः॥'** (महारामायण)

(३) पुनः यों भी कहते हैं कि प्रणव (ओम्) वेदका प्राण है और ओम् श्रीरामनामके अंशसे सिद्ध होता है। यथा—**'रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः। रूपं तत्त्वमसेश्चासौ वेदतत्त्वाधिकारिणः॥'** अतएव रामनाम वेदके प्राण हुए। श्रीरामतापिनीकी **'जीवत्वेनेदमो यस्य'** इस श्रुतिमें प्रणवकी उत्पत्ति वह्निबीजसे स्पष्टतः पायी जाती है। जैसे अग्निसे तपाये हुए पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति होती है वैसे ही वह्निबीजद्वारा व्याहृतियों (**भूर्भुवः स्वः**) से प्रणवका आविष्कार होनेसे प्रणव इनका कार्य सिद्ध हो गया। (रा० ता० भाष्य)

नोट—२ 'श्रीरामनाम' षट् पदार्थ (र, रकारका अकार आ म मकारका अकार नाद) युक्त हैं, इनसे व्याकरणकी रीतिसे प्रणव सिद्ध होता है, संस्कृत व्याकरणके जाननेवाले प्रमाणसे समझ सकते हैं। प्रमाण यथा—**'रामनाम महाविद्या षड्भिर्वस्तुभिरावृतम्। ब्रह्मजीवमहानादैस्त्रिभिरन्यद्वदामि ते॥ स्वरेण बिन्दुना चैव**

दिव्यया माययापि च। पृथक्त्वेन विभागेन साम्प्रतं शृणु पार्वति॥ परब्रह्ममयो रेफो जीवोकारश्च मस्य यः। रस्याकारो महानादो रायादीर्घस्वरात्मिका॥ मकारो व्यञ्जनं बिन्दुर्हेतुः प्रणबमाययोः। अर्द्ध-भागादुकारः स्यादकारात्रादरूपिणः॥ रकारो गुरुराकारस्तथा वर्णविपर्ययः। मकारं व्यञ्जनं चैव प्रणवं चाभिधीयते॥ मस्या सवर्णितं मत्वा प्रणवे नादरूपधृक्। अन्तर्भूतो भवेद्रेफः प्रणवे सिद्धिरूपिणी॥' (महारामायण श्रीशिववाक्य २९—३४)

वे० भू०—व्याकरणके नियमसे '**वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ**' अर्थात् आगम, विपर्यय (निर्देश), विकार और नाश (लोप) ये चार क्रियाएँ वर्णोंकी होती हैं। महर्षि पाणिनिने इसीलिये '**उणादयो बहुलम्**।'(३। ३। १) सूत्र लिखा है। इससे '**संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनु-बन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु**।' अर्थात् नामोंमें अनुकूल धातु, उसके आगेके प्रत्यय आदि और उसके आगम, लोप आदि कार्यके अनुरूप किये जाते हैं। उणादिका यह शास्त्र है। इन नियमोंके कारण 'राम' शब्दसे 'ओम्' की निष्पत्तिके लिये जब '**राम**' शब्दका वर्णच्छेद किया जायगा तो उसकी स्थिति होगी र् अ अ म् अ। इसके वर्ण-विपर्यय कर देनेसे अ अर् अ म् यह स्थिति होगी। '**अतो रोरप्लुतादप्लुते**।'(६। १। ११३) इस सूत्रसे 'र्' का 'उ' विकार होगा। और '**अकः सवर्णे दीर्घः**।'(६। १। १०१) इस सूत्रसे 'उकार' के प्रथमके दोनों 'अकार' का दीर्घ 'आ' होकर '**आद्गुणः**।'(६। १। ८७) इस सूत्रसे 'आ' और 'उ' दोनोंका विकार 'ओ' होकर '**एङः पदान्तादति**।'(५। १। १०९) सूत्रसे अवशिष्ट 'अ' का पूर्वरूप नाश होकर 'ओम्' निष्पन्न होगा। स्मरण रहे कि जिस प्रकार व्याकरण-शास्त्रके द्वारा 'राम' से 'ओम्' उत्पन्न होता है उस तरह 'ओम्' से 'राम' बननेकी कोई भी विधि व्याकरण नहीं प्रकट करता।

पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि प्रणव रामनामकी पञ्चकलाके संयोगसे बना है, क्योंकि प्रणवमें तारक, दण्डक, कुण्डल, अर्द्धचन्द्र और बिन्दु—ये पाँच कलाएँ हैं और 'राम' में रेफ भी है। यथा—*'बंदउँ श्री दोऊ वरण तुलसी जीवनमूर। लसे रसे एक एक के तार तार दोउ पूर॥ रवि आसा जो अतल से सो त्रयतारक राज। तुलसी दक्षिण दण्ड है बायें कुण्डल भ्राज॥ अर्ध चन्द्र ताके परे अमीकुण्ड पर पार। सम सूत्र शर ब्रह्म ए तुलसी जीवनसार।'* (श्रीरामनामकलाकोष-मणिमयूख) (मा० म०)

पं० श्रीकान्तशरणजी 'राम' से 'ओम्' की सिद्धिके प्रकार यह देते हैं;—(१) 'जैसे 'राम' इस पदमें 'र, अ, अ, म, अ' ये पाँच अक्षर हैं, उनमें वर्णविपर्यय करनेपर 'अ, र, अ, म, अ' होता है, उसमें '**अतो रोरप्लुतादप्लुते**' (पा० ६। १। ११३) इस सूत्रसे 'र' का 'उ' हुआ और '**आद्गुणः**' (पा० ६। १। ८७) सूत्रसे 'अ, उ' के स्थानमें 'ओ' हुआ, और '**एङः पदान्तादति**' (६। १। १०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्वरूप और अन्तिम 'अ' का पृषोदरादित्वसे वर्णनाश होकर 'ओम्' बनता है।

(२) अथवा 'राम' शब्दकी प्रकृतिभूत '**रमु**' धातुमें वर्णविपर्यय मानकर पूर्वोक्त '**अतोरो**……' से 'र' से 'उत्व' और उपर्युक्त '**आद्गुणः**' से 'ओत्व' करनेपर 'ओम्' बनता है।'

उपर्युक्त दूसरे प्रकार (अर्थात् रम् धातुसे ओम्की उत्पत्ति सिद्ध करने) में लाघव-सा जान पड़ता है। परन्तु यह किस प्रमाणके आधारपर लिखा गया है, यह नहीं बताया गया। महारामायणमें एवं श्रीसीतारामनाम-प्रतापप्रकाशमें 'राम' नामसे प्रणवकी उत्पत्तिके प्रमाण पाये जाते हैं। इन्हीं प्रमाणोंके आधारपर (ऊपर दिये हुए चार प्रकारोंमेंसे) प्रथम, तृतीय और चतुर्थ प्रकारसे उसकी सिद्धि दिखायी गयी। इस प्रमाणसे रमु धातुसे प्रणवकी सिद्धि मानना उचित नहीं है। वैयाकरणोंसे धातुके विषयमें यह मालूम हुआ है कि केवल धातु (जबतक उससे *'तिङादि'* कोई प्रत्यय नहीं किया जाता) का व्यवहार कभी नहीं होता। क्योंकि यद्यपि '**रमु क्रीडायाम्**' ऐसा लिखा है तथापि जबतक उससे कोई प्रत्यय नहीं किया जाता तबतक उसका कोई अर्थ नहीं होता। अतः ऐसे वर्णसमुदायसे सार्थक प्रणवकी उत्पत्ति मानना कहाँतक उचित होगा? हाँ! यदि कोई प्रमाण मिले तो माननीय होगा।

वे० भू० पं० रामकुमारदासजीके प्रकारसे पं० श्रीकान्तशरणजीके प्रकारमें कुछ भेद देखकर मुझे इन सूत्रों आदिको व्याकरणाचार्योंसे समझनेकी आवश्यकता हुई। पण्डितोंके द्वारा जो मैं समझा हूँ वह

यहाँ लिखता हूँ। (क) 'एङः पदान्तादति' सूत्र वहीं लागू होता है जहाँ पदान्तमें 'ए' या 'ओ' होते हैं। प्रथम प्रकारमें केवल एक 'अ' और 'र' का परिवर्तन हुआ है। यद्यपि दो 'अ' के परिवर्तनकी अपेक्षा इसमें लाघव-सा जान पड़ता है परन्तु आगे 'र' का 'उ' और गुणसे 'ओ' हो जानेपर यहाँ 'एङः पदान्तादति' लगाया गया है; परन्तु 'ओ' पदान्त न होनेसे यह सूत्र यहाँ नहीं लग सकता। अतः इससे 'ओम्' की सिद्धि नहीं होती। अतः तीसरा प्रकार इससे कुछ ठीक जान पड़ता है; क्योंकि वहाँ दो 'अ', 'र' के प्रथम परिवर्तित किये गये हैं; अतः वहाँ 'एङः पदान्तादति' की आवश्यकता नहीं पड़ी। (ख) 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' सूत्रसे दोनों प्रकारोंमें 'र' व 'र्' का 'उ' किया गया है परन्तु यह सूत्र यहाँ नहीं लगता। जहाँ 'ससजुषो रुः' आदि सूत्रोंसे रु आदेश (अक्षर-परिवर्तन) होता है उसी 'रु' के 'र' का 'उ' होता है। यहाँका 'र' वा 'र्' 'रु' का नहीं है; वह तो रमु धातुका है। अतः यह सूत्र यहाँ नहीं लगता।

पं० श्रीकान्तशरणजीके प्रथम प्रकारमें एक बड़ी भारी त्रुटि यह भी है कि उसमें 'राम' नामके खण्डोंमें प्रथम खण्ड 'र' अर्थात् अकारयुक्त रेफ है और उसीका विपर्यय और उत्व किया गया है। परन्तु उत्व तो केवल रेफका होता है।

नोट—३ (क) महारामायणके उपर्युक्त प्रमाणके अनुसार श्रीरामनामकी छः कलाएँ ये हैं। र् अ आ म् अ नाद। प्रणवकी सिद्धि करनेमें इसके अनुसार ही पाँचों खण्ड लेना प्रामाणिक होगा। यद्यपि 'राम' नाममें पूर्वाचार्योंने पाँच या छः कलाएँ मानी हैं तथापि 'राम' से 'ओम्' की सिद्धि करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उसके सब खण्ड अलग-अलग किये जायँ। जितने वर्ण देखनेमें आते हैं (र्, अ, म्, अ) इतने खण्डोंसे ही हमारा काम चल जाता है, अतः उतने ही खण्ड करना उचित है। ऐसा करनेसे 'र्' और 'आ' का परिवर्तन, 'र्' का 'उ'; फिर 'आ' 'उ' का 'ओ' और अन्तिम 'अ' का लोप होनेसे 'ओम्' सिद्ध होता है। 'आद्गुणः,' 'अकः सवर्णे दीर्घः' ये दो सूत्र छोड़कर अन्य प्रायः सब काम (वर्ण-परिवर्तन, 'उ', अन्तिम आका लोप आदि) 'पृषोदरादित्त्व' से कर लेना चाहिये। यथा—'रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवस्सकलविधिकैङ्कर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथ-सम्बन्धमनयोरनन्यार्ह ब्रूते त्रिनिगमरूपोऽयमतुलः॥' (श्रीराममन्त्रार्थ) इसमें 'राम' नामकी तीन ही कलाओं 'र्, आ, म्' को लेकर मन्त्रार्थ किया गया है और प्रमाण नोट २ में आ चुके हैं। (ख) 'पृषोदरादित्त्व' इति। पाणिनिजीका एक सूत्र है 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।' (६। ३। १०९) पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्युः।' अर्थात् पृषोदर आदि शब्द जैसे शिष्ट लोगोंने कहे हैं वैसे ही वे ठीक हैं। तात्पर्य कि जो शब्द जिस अर्थमें प्रसिद्ध है उससे वही अर्थ सिद्ध होगा। इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर पाणिनिके धातु-सूत्र आदि यथासम्भव काममें लाकर जहाँ न बनता हो वहाँ अपनी ओरसे वर्ण परिवर्तन, अन्य वर्ण-ग्रहण, लोप आदि जो आवश्यक हो, कर लें। यथा—'पृषत उदर'= पृषोदर, वारिवाहक= बलाहक, 'हिंसि' धातुसे सिंह इत्यादि। (ग) श्रीरामनाममें छः कलाएँ महारामायणके उपर्युक्त श्लोकोंमें बतायी गयी हैं और प्रणवमें भी छः कलाएँ श्रीरामतापनीयोपनिषद् उत्तरार्ध द्वितीय कण्डिका मन्त्र ३ में बतायी गयी हैं। इस तरह कलाओंकी संख्या भी समान है। परन्तु उपर्युक्त श्रीरामनामसे प्रणवकी सिद्धिके प्रकारोंमें केवल पाँच, चार अथवा तीन ही कलाएँ दिखायी गयी हैं। ऐसी अवस्थामें यह शङ्का हो सकती है कि 'दोनोंकी कलाओंमें वैषम्य होनेसे उनके अर्थोंमें त्रुटि होनेकी सम्भावना है।' इसका समाधान यह हो सकता है कि प्रणवकी सिद्धिके लिये 'श्रीराम' नामके जो खण्ड दिखाये गये हैं, उनमेंसे किसी-किसी खण्डमें यथासम्भव दूसरी कलाका प्रवेश समझना चाहिये और जिस कलाका लोप दिखाया गया है यद्यपि वह सुननेमें नहीं आती है तथापि अर्थ करते समय उसका भी अर्थ किया जायगा। इस तरह कला और अर्थमें—दोनोंमें समानता होती है। दूसरा समाधान यह है कि महर्षियोंने प्रणवकी भी एक-से लेकर अनेक कलाएँ मानी हैं। श्रीमत्स्वामिहंसस्वरूपनिर्मित 'मन्त्रप्रभाकर' (मुजफ्फरपुर त्रिकुटीविलासयन्त्रालयमें मुद्रित) में लिखा है

कि वाष्कल्य ऋषिके अनुयायी एकमात्रा, साल और काइत्यके मतावलम्बी दो मात्रा, देवर्षि नारदके ढाई मात्रा, मौण्डल और माण्डूक्य आदिके तीन मात्रा और कोई साढ़े तीन, पराशरादि चार, भगवान् वसिष्ठ साढ़े चार मात्रा मानते हैं इत्यादि। इस प्रकार जहाँ जितनी मात्राएँ 'ओम्' की लेंगे वहाँ उतनी ही 'राम' नामकी लेंगे। इस तरह भी शङ्का नहीं रहती।

नोट—४ पं० रामकुमारजी *'सो'* का अर्थ 'सम' करते हुए लिखते हैं कि 'रामनाम प्रणव सम है, ओम्के तीन अक्षरोंसे तीन देवता हैं और रामनामसे भी। दोनों ब्रह्मरूप हैं। यथा, **'ओमित्यक्षरं ब्रह्म', 'तारकं ब्रह्म संज्ञकम्'**। प्रणवसे त्रिदेवकी उत्पत्तिका प्रमाण, यथा—**'अकारः प्रणवे सत्वमुकारश्च रजोगुणः। तमो हलमकारः स्यात्त्रयोऽहंकारमुद्भवः।'** (महारामायण)

नोट—५ रामनामको *'अनूपम'* कह रहे हैं और पूर्वार्द्धमें कहा है कि *'बेद प्रान'* (प्रणव) सम है। यह परस्पर विरोध है। जब एक समता हो गयी तो उपमारहित कैसे कह सकते हैं? लाला भगवानदीनजी इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस अर्धालीका ठीक अर्थ 'अर्थ ३' है जो ऊपर दिया गया है। वे कहते हैं कि साहित्यरीतिसे इस अर्धालीमें उपमालङ्कार है। प्रथम चरणमें पूर्णोपमा है जिसमें 'राम' उपमेय, *'बेद प्रान'* (ओऽम्) उपमान, *'सो'* वाचक, और *'बिधिहरिहरमय'* धर्म है। *'अनूपम'* शब्द 'राम' शब्दका विशेषण नहीं है, वरं च गुणनिधानमें आये हुए 'गुण' शब्दका विशेषण है। इस प्रकार भी उपर्युक्त शङ्का निर्मूल हो जाती है। (प्रोफे० दीनजी)

दोहावलीकी भूमिकामें प्रोफे० दीनजी लिखते हैं कि *'बंदउँ नाम राम'* से *'कालकूट फल दीन्ह अमी को'* तककी चौपाइयोंमें 'रामनाम' के श्रेष्ठतम होनेके प्रमाण उपस्थित किये हैं। इस उद्धरणकी पहली चौपाई (*'बंदउँ'* से *'गुननिधान सो'* तक) दार्शनिक छानबीनसे ओत-प्रोत है। 'राम' शब्दकी बहुत ही ऊँची श्रेष्ठता है। हमारे वेदोंमें 'ॐ' ही ईश्वरका नाम और रूप जो कहिये सो माना गया है और इसी ॐ-में समस्त संसारकी सृष्टि प्रच्छन्न है, अर्थात् 'ॐ' शब्दपर यदि गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो इसीके विस्तार और खण्ड आदिसे संसारकी समस्त वस्तुओंका प्रादुर्भाव हुआ है। सभी इसके रूपान्तर-मात्र हैं। यही 'ॐ' 'राम' का या 'राम' 'ॐ' का विपर्ययमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं। (पर, 'राम' 'ओम्' का विपर्ययमात्र है, इसमें सन्देह है। श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य एवं वे० भू० पं० रा० कु० जीका लेख देखिये।) इसी विपर्ययकी सिद्धिके अनन्तर और सभी बातें स्वयं सङ्गत और अर्थानुकूल हो जायँगी। 'ॐ' को दूसरे प्रकार 'ओम्' रूपमें लिखते हैं। यह रूप उक्त 'ॐ' का अक्षरीकृत रूप ही है। दूसरा कुछ नहीं। अब यह दर्शाना चाहिये कि 'ओम्' और 'राम' एक ही हैं, तभी *'बेद प्रान'* लिखना सार्थक होगा। सन्धिके नियमानुसार 'ओम्' का 'ओ' 'अ:' के विसर्गका रूप परिवर्तनमात्र है। इस विसर्गके दो रूप होते हैं, एक तो यह किसी अक्षरकी सन्निद्धिसे 'ा' हो जाता है और दूसरे 'र्' होता है। यदि विसर्गका रूपान्तर 'ा' न करके 'र्' किया जाय तो 'अ र् म्' ही 'ओम्' का दूसरा रूप हुआ। अब इन अक्षरोंके विपर्ययसे राम स्वतः बन जायगा। अ र् म् को यदि 'र् अ म्' ढंगसे रखें और 'र्', 'म्' व्यञ्जनोंको स्वरान्त मानें तो 'राम' बन जाता है।* हमारे विचारसे उक्त चौपाइमें *'बेद प्रान सो'* का यही भाव है। जब 'राम' 'ॐ' का रूपान्तरमात्र है तो फिर वह विधिहरिहरमय भी है। वेदमें ब्रह्मा, विष्णु

* इसी प्रकार 'राम' से भी 'ॐ' सिद्ध होता है। 'राम' और 'ॐ' का परस्पर विपर्यय इस प्रकार है। (लाला भगवानदीनजीके मतसे—)

राम=र् अ म	ॐ=ओं
अ र् म	अ ो म्
अ : म	अ : म
अ ो म्	अ र् म
ओं	र अ म
ॐ	राम

और शिवकी उत्पत्ति 'ॐ' से ही मानी गयी है और दार्शनिक इन्हें ब्रह्मका औपाधिक नाम ही मानते हैं अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि करते समय ब्रह्मा, पालन करते समय विष्णु और संहार करते समय शिव नामसे विहित होता है। सुतरां ब्रह्मके नामोंमें 'राम' एक मुख्य नाम हुआ।

इस शङ्काका समाधान पं० रामकुमारजी यों करते हैं कि (क) समता एकदेशीय है, वह एक देश यह है कि दोनों त्रिदेवमय हैं। सब देशोंमें प्रणव रामनामके समान नहीं है क्योंकि रामनाम भगवान्‌के दिव्य गुणोंके निधान सम हैं। पुनः, (ख) इस तरह भी कह सकते हैं कि त्रिदेवके उत्पन्न करनेके लिये गुणनिधान हैं और स्वयं अगुण हैं। (पं० रामकुमार) वेदप्राणका अर्थ प्रणव न लेनेसे यह शङ्का ही नहीं रह जाती। प्राण=जीवन, सर्वस्व। सो=वह।

नोट—६ *'अगुन अनूपम गुननिधान सो'* इति। (क) *अगुन* और *अनूपम* कहकर जनाया कि सब नामोंमें यह परम उत्तमोत्तम है। (अर्धाली १ में सर्वश्रेष्ठता दिखा आये हैं।) *'गुननिधान'* कहकर जनाया कि इसमें अनन्त दिव्य गुण हैं। यह ज्ञान, विज्ञान और प्रेमापरा भक्ति आदिका रूप ही है। यथा—**'विज्ञानस्थो रकारः स्यादकारो ज्ञानरूपकः। मकारः परमा भक्ती रमु क्रीडोच्यते ततः॥'**(महारामायण ५२। ५२) (ख) मानस-अभिप्राय-दीपककार लिखते हैं कि *'अनल भानु शशि ब्रह्म हरि, हर ओंकार समेत। ब्रह्म जीव माया मनहिं भिन्न भिन्न सिख देत॥'* (३२) अर्थात् इस चौपाईमें श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, त्रिदेव, प्रणव, ब्रह्म, जीव, माया इन दसोंका कारण या तद्रूप कहा है। इसका कारण यह है कि इन दसोंका उपकार मनपर है। ये दसों मनको शिक्षा देते रहते हैं। अग्नि आदि पालन-पोषणमें सहायक, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहारद्वारा जीवोंका कल्याण करते, प्रणव वेदको सत्तावान् करके सृष्टिका रक्षक, निर्गुण ब्रह्म जीवके साथ रहकर इन्द्रिय आदि सबको सचेत करता है और विद्या माया-भक्ति-मुक्तिके मार्गपर लगाती है। इनका उपकार मनपर है। श्रीरामनामकी उपासना करनेसे इन दसोंके उपकारका बदला चुक जायगा। यह शिक्षा 'कारण' कहकर दे रहे हैं।

नोट—७ कोई-कोई यहाँ यह शङ्का करते हैं कि *'बिधिहरिहर'* तो सृष्टिके कर्त्ता हैं, इनको पहले कहना चाहिये था सो न करके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाको पहले कहा, यह क्यों? समाधान यह है कि आग, सूर्य, चन्द्रमाके गुण, स्वरूप और प्रभाव सब कोई प्रत्यक्ष देखते हैं, इससे उनका हेतु कहनेसे श्रीरामनामका प्रताप शीघ्र समझमें आ जायेगा। विधिहरिहर दिखायी नहीं देते और यद्यपि ये ही जगत्‌के उत्पत्ति, पालन, संहारकर्त्ता हैं तथापि इन्हें इन सबका कर्त्ता न कहकर लोग माता-पिताको पैदा व पालन करनेवाला और रोगको मृत्युका कारण कहते हैं। जैसे सूक्ष्म रीतिसे विधिहरिहर उत्पन्न, पालन, संहार करते हैं, वैसे ही गुप्त रीतिसे ये नामके अङ्ग हैं, अतएव पीछे कहा।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥ ३॥

अर्थ—रामनाम महामन्त्र है जिसे श्रीशिवजी जपते हैं और जिसका उपदेश काशीमें मुक्तिका कारण है। ३।

नोट—१ इस चौपाईमें ग्रन्थकारने स्पष्ट बता दिया है कि (क) रामनाम ही महामन्त्र है। इसके प्रमाण बहुत हैं। यथा—**'यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम्॥'** (शुकपुराण), **'सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः। एक एव परो मन्त्रः श्रीरामेत्यक्षरद्वयम्॥'** (सारस्वततन्त्रे श्रीशिवोवाच), ***'बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।'*** (वि० १०८), **'अंशांशे रामनाम्नश्च त्रयः सिद्धा भवन्ति हि। बीजमोंकारसोऽहं च सूत्रमुक्तिमिति श्रुतिः॥', 'इत्यादयो महामन्त्रा वर्तन्ते सप्तकोटयः। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनामप्रकाशकः॥'** (महारामायण ५२। ३९) अर्थात् प्रणव आदि सात करोड़ महामन्त्रोंके स्वरूप श्रीरामनामहीसे प्रकाशित होते हैं। श्रीरामनामका महामन्त्र होना इससे भी सिद्ध है कि ये महा अपावनको भी पावन करते हैं और स्वयं पावन बने रहते हैं, शुद्ध-अशुद्ध, खाते-पीते, चलते-फिरते, शौचादि क्रिया करते समय भी यहाँतक कि शव (मुर्दे) को कन्धेपर लिये हुए भी उच्चारण करनेसे मङ्गलकारी

ही होते हैं। इसमें किसी विधिकी आवश्यकता नहीं। *'भाय कुभाय अनख आलसहू'*, उलटा-पलटा-सीधा यहाँतक कि अनजानमें भी उच्चारण स्वार्थपरमार्थका देनेवाला है। अन्य मन्त्रोंमें जपकी विधि है, अनेक प्रकारके अनुष्ठान करनेपर भी वे फलें या न फलें, परन्तु रामनाम दीक्षा बिना भी ग्रहणमात्रसे फल देता है; अन्य मन्त्रोंके अशुद्ध जपसे लाभके बदले हानि पहुँचती है। (ख) इसीको शिवजी जपते हैं। यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* (१।१०८) *'उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥'* (१।१०) **'श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।'** (कि० मं० २) इत्यादि। (ग) श्रीशिवजी रामनामहीको जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। (देखिये नोट ५)

नोट—२ रामनामका माहात्म्य कहनेमें प्रथम महेशजीहीकी साक्षी देते हैं। माहात्म्यका वर्णन इन्हींसे प्रारम्भ किया क्योंकि—(क) शिवजी उपासकोंमें शिरोमणि हैं, इनके समान नामका प्रभाव दूसरा नहीं जानता । यथा—*'नाम प्रभाव जान सिव नीको'*, *'महिमा राम नाम कै जान महेस।'* (बरवै० ५३) (ख) वैष्णवोंमें ये अग्रगण्य हैं। यथा—**'वैष्णवानां यथा शम्भुः'** (भा० १२। १३। १६) (पं० रामकुमारजी)। (ग) जो इनका सिद्धान्त होगा वह सर्वोपरि माना जायेगा। (करु०)

नोट—३ *'महेसू'* इति। महेश नाम देकर यह प्रमाणित करते हैं कि ये देवताओंके स्वामी हैं, महान् समर्थ हैं। जब ये महेश ही उस नामको जपते हैं तो अवश्य ही महामन्त्र होगा, क्योंकि बड़े लोग बड़ी ही वस्तुका आश्रय लेते हैं।

नोट—४ इस चौपाईमें दो बातें दिखायी हैं, एक यह कि सर्व-समर्थ महेशजी स्वयं जपते हैं और दूसरे यह कि दूसरोंको उपदेश भी देते हैं।

नोट—५ *'कासी मुकुति हेतु उपदेसू'* इति। मरते समय श्रीरामनामहीका उपदेश जीवोंको करते हैं, तब मुक्ति होती है, यथा—*'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥'* (१।११९), *'देत परम पद कासीं करि उपदेस॥'* (बरवै० ५३), *'बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत, रामनाम ही सों रीझें सकल भलाई है। कासीहूँ मरत उपदेसत महेसु सोई, साधना अनेक चितई न चित लाई है॥'* (क० ७। ७४), *'जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥'* (४।१०), **'अहं भवन्नामगुणान्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या । मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥'** (अ० रा० यु० १५। ६२), **'पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्। जल्प्यं जल्प्यं प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी॥'** (स्कन्ध पु० काशीखण्ड) अर्थात्, मैं आपके नामके गुणोंसे कृतार्थ होकर काशीमें भवानीसहित रहता हूँ और मरणासन्न प्राणियोंकी मुक्तिके लिये उनके कानमें आपका मन्त्र 'राम' नाम उपदेश करता हूँ। (अ० रा०) तारक ब्रह्मरूप (श्रीरामजी) का मनमें ध्यान करो, सुन्दर श्रीरामनामको कानरूपी दोनेद्वारा बारम्बार पियो और प्राणियोंके अन्तकालसमय उनके कानोंमें सुन्दर रामनामको सुनाइये। काशीकी गली-गलीमें कोई काशीनिवासी (श्रीशिवजी) ऐसा कहता हुआ विचरता है। (काशीखण्ड) पुनश्च यथा—**'रामनाम्ना शिवः काश्यां भूत्वा पूतः शिवः स्वयम्। स निस्तारयते जीवराशीन्काशीश्वरस्सदा॥'** (शिवसंहिता २। १४) अर्थात् रामनामसे काशीश्वर शिवजी स्वयं पवित्र होकर नित्य अनन्त जीवोंको तारते हैं। पुनः यथा—**'द्व्यक्षरे याचमानाय मह्यं शेषे ददौ हरिः। उपदिशाम्यहं काश्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ॥ 'रामेति तारकं मन्त्रं तमेव विद्धि पार्वति।'** (आ० रा० यात्राकाण्ड सर्ग २। १५-१६) अर्थात् बाँटमें जो दो अक्षर बचे थे वह मैंने भगवान्से माँग लिये, वही 'राम' यह तारक-मन्त्र मैं जीवोंके अन्तकालसमय उनको उपदेश करता हूँ।

नोट—६ अर्थ—२ 'काशीमें सब जीवोंके मुक्ति उपदेशहेतु (लिये) शिवजी जिस महामन्त्रको सदा जपते हैं।' (बाबा हरीदासजी)

मुक्तिका उपदेश देनेके लिये स्वयं सदा उसे जपनेका तात्पर्य यह है कि यदि स्वयं रामनाम न ग्रहण करें तो उनका उपदेश (जिस जीवको वह नाम-उपदेश किया जा रहा है उसको) कुछ

भी काम नहीं कर सकता। जैसा ही जो नामरसिक नामजापक होगा, वैसा ही उसका उपदेश लगेगा और वैसा ही नामप्रतापसे काम चलेगा। पद्मनाभजी, नामदेवजी और गोस्वामीजीकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। (बाबा हरीदासजी)

नोट—७ यहाँ 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

नोट—८ श्रीरामतापिनीयोपनिषद्में श्रीरामतारक षडक्षर मन्त्रका कानमें उपदेश करना कहा गया है। यथा—'**क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः। कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा॥**', **अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये। अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु॥**', **त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्। जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते॥**, **मुमूर्षोर्दक्षिणं कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव॥**' (रा० उ० ता०४-५, ७-८) अर्थात् हे महादेव ! तुम्हारे इस क्षेत्रमें कृमिकीटादि कहीं भी यदि मृत्यु पावेंगे वे मुक्त हो जायँगे। आपके इस काशीपुरीमें लोगोंकी मुक्तिके लिये हम प्रतिमाओंमें प्रतिष्ठित रहेंगे। तुमसे या ब्रह्माजीसे जो षडक्षरमन्त्र प्राप्त करते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं। जो मर रहा है उसके दक्षिण कानमें हमारा मन्त्र उपदेश करनेसे उसकी मुक्ति हो जायगी। और, गोस्वामीजी यहाँ तथा और भी अनेक स्थलोंपर 'राम' नामका उपदेश करना चाहते हैं। तथा अध्यात्मरा०, आनन्दरा०, काशीखण्ड और शिवसंहिता आदिमें भी रामनामका ही उपदेश करना कहा गया है। (नोट ५ देखिये) इन दोनोंका समन्वय कुछ महात्मा इस प्रकार करते हैं कि षडक्षर श्रीरामनामके बीज और श्री 'राम' नाममें अभेद है। उसपर कुछ महात्माओंका मत है कि मन्त्र अथवा बीजका जो अर्थ बताया जाता है उसका और रामनामके जो अर्थ बताये जाते हैं उनका मेल नहीं होता; अतएव समन्वय इस प्रकार ठीक होगा कि षडक्षरमन्त्रका मूलतत्त्व श्री 'राम' नाम है, इसलिये श्रीरामतापनीयोपनिषद्वाक्य और गोस्वामीजीके तथा अध्यात्मादि रामायणोंके वाक्योंमें विरोध नहीं है। मन्त्र और नाममें अभेद है, इसकी पुष्टि मत्स्यपुराणके '**सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुसाक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥**' (श्रीसीतारामनाम प्र० प्र० ६९। अर्थात् समस्त राममन्त्रोंमें षडक्षर तथा दोनों अक्षर तारक हैं, अतः अत्यन्त श्रेष्ठ हैं) इस श्लोकसे भी होती है। मन्त्र और नाम दोनोंको 'तारक' कहा जाता है। मन्त्र तो तारक प्रसिद्ध ही है। नाम तारक है, यह श्रीरामस्तवराजमें स्पष्ट कहा है। यथा—'**श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्। ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः।**' (५) अर्थात् श्रीराम (नाम) परम जाप्य है, तारक है और ब्रह्मसंज्ञक है तथा ब्रह्महत्यादि पापोंका नाशक है, वेदोंके ज्ञाता इसे जानते हैं। सम्भवतः षडक्षर और नाममें अभेद मानकर ही अन्यत्र उपनिषद् और पुराणोंमें केवल 'तारक' शब्दका ही प्रयोग किया गया, षडक्षर अथवा युग्माक्षरका उल्लेख नहीं किया गया। यथा—'**अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे।**' (जाबालो० १), '**यत्र साक्षान्महादेवो देहान्ते स्वयमीश्वरः। व्याचष्टे तारकं ब्रह्म तत्रैव ह्यविमुक्तये॥**' (पद्म० पु० स्वर्गखण्ड ३३। ४७), '**भगवानन्तकालेऽत्र तारकस्योपदेशतः। अविमुक्ते स्थितान् जन्तून्मोचयेन्नात्र संशयः॥**' (स्कन्द पु० काशीखण्ड ५। २८)

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥ ४॥

अर्थ—जिस (श्रीरामनाम) की महिमा श्रीगणेशजी जानते हैं। श्रीरामनामहीके प्रभावसे (वे सब देवताओंसे) पहले पूजे जाते हैं॥ ४॥

श्रीगणेशजीकी कथा

पुराणान्तर्गत ऐसी कथा है कि (१) शिवजीने गणेशजीको प्रथम पूज्य करना चाहा, तब स्वामिकार्त्तिकजीने आपत्ति की कि हम बड़े भाई हैं, यह अधिकार हमको मिलना चाहिये। श्रीशिवजीने दोनोंको ब्रह्माजीके पास न्याय कराने भेजा। [पुनः यों भी कहते हैं कि (२) एक बार ब्रह्माजीने सब देवताओंसे पूछा कि

तुममेंसे प्रथम पूज्य होनेका अधिकारी कौन है; तब सब ही अपने-अपनेको प्रथम पूजनेयोग्य कहने लगे। आपसमें वादविवाद बढ़ते देख] ब्रह्माजी बोले कि जो तीनों लोकोंकी परिक्रमा सबसे पहले करके हमारे पास आवेगा वही प्रथम पूज्य होगा। स्वामिकार्त्तिकजी मोरपर अथवा सब देवता अपने-अपने वाहनोंपर परिक्रमा करने चले। गणेशजीका वाहन मूसा है। इससे ये सबसे पीछे रह जानेसे बहुत ही उदास हुए। उसी समय प्रभुकी कृपासे नारदजीने मार्गहीमें मिलकर उन्हें उपदेश किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'श्रीरामनाम' के अन्तर्गत है। तुम 'राम' नामहीको पृथ्वीपर लिखकर नामहीकी परिक्रमा करके ब्रह्माजीके पास चले जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। अन्य सब देवता जहाँ-जहाँ जाते, वहाँ ही अपने आगे मूसाके पैरोंके चिह्न पाते थे। इस प्रकार गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूज्य हुए।

कथा (१) शैवतन्त्रमें कही जाती है और कथा (२) पद्मपुराणमें।

प्रथम दो संस्करणोंमें हमने यह कथा दी थी और टीकाकारोंने इसे टीकाओंमें लिया भी है। परन्तु हमें पद्मपुराणमें यह कथा अभीतक नहीं मिली।

श्रीगणेशजीने गणेशपुराणमें श्रीरामनामके कीर्त्तनसे अपना प्रथम पूज्य होना कहा है और यह भी कहा है कि उस 'राम' नामका प्रभाव आज भी मेरे हृदयमें विराजमान एवं प्रकाशित है। उसमें जगदीश्वरका इनको रामनामकी महिमाका उपदेश करना कहा है। प्रमाण—**'रामनाम परं ध्येयं ज्ञेयं पेयमहर्निशम्। सदा वै सद्भिरित्युक्तं पूर्वं मां जगदीश्वरैः॥, 'अहं पूज्यो भवल्लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात्॥'** (सी० रा० नाम प्र० प्र०), **'तदादि सर्वदेवानां पूज्योऽस्मि मुनिसत्तम। रामनामप्रभा दिव्या राजते मे हृदिस्थले॥'** (वै०)

पद्मपुराणसृष्टिखण्डमें श्रीगणेशजीके प्रथम पूज्य होनेकी एक दूसरी कथा (जो व्यासजीने संजयजीसे कही है। यह है कि श्रीपार्वतीजीने पूर्वकालमें भगवान् शङ्करजीके संयोगसे स्कन्द और गणेश नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। उन दोनोंको देखकर देवताओंकी पार्वतीजीपर बड़ी श्रद्धा हुई और उन्होंने अमृतसे तैयार किया हुआ एक दिव्य मोदक पार्वतीजीके हाथमें दिया। मोदक देखकर दोनों बालक उसे मातासे माँगने लगे। तब पार्वतीजी विस्मित होकर पुत्रोंसे बोलीं—'मैं पहले इसके गुणोंका वर्णन करती हूँ, तुम दोनों सावधान होकर सुनो। इस मोदकके सूँघनेमात्रसे अमरत्व प्राप्त होता है और जो इसे सूँघता वा खाता है वह सम्पूर्ण शास्त्रोंका मर्मज्ञ, सब तन्त्रोंमें प्रवीण, लेखक, चित्रकार, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको जाननेवाला और सर्वज्ञ होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पुत्रो! तुममेंसे जो धर्माचरणके द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त करके आयेगा, उसीको मैं यह मोदक दूँगी। तुम्हारे पिताकी भी यही सम्मति है।'

माताके मुखसे ऐसी बात सुनकर परम चतुर स्कन्द मयूरपर आरूढ़ हो तुरन्त ही त्रिलोकीके तीर्थोंकी यात्राके लिये चल दिये। उन्होंने मुहूर्त्तभरमें सब तीर्थोंका स्नान कर लिया। इधर लम्बोदर गणेशजी स्कन्दसे भी बढ़कर बुद्धिमान् निकले। वे माता-पिताकी परिक्रमा करके बड़ी प्रसन्नताके साथ पिताजीके सम्मुख खड़े हो गये। क्योंकि माता-पिताकी परिक्रमासे सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। यथा—**'सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता। मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥ मातरं पितरञ्चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा॥'** (पद्म० पु० सृष्टिखण्ड ४७। ११। १२) फिर स्कन्द भी आकर खड़े हुए और बोले, 'मुझे मोदक दीजिये'। तब पार्वतीजी बोलीं, समस्त तीर्थोंमें किया हुआ स्नान, देवताओंको किया हुआ नमस्कार, सब यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सब प्रकारके सम्पूर्ण व्रत, मन्त्र, योग और संयमका पालन ये सभी साधन माता-पिताके पूजनके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकते। इसलिये यह गणेश सैकड़ों पुत्रों और सैकड़ों गुणोंसे भी बढ़कर है। अतः देवताओंका बनाया हुआ यह मोदक मैं गणेशको ही अर्पण करती हूँ। माता-पिताकी भक्तिके कारण ही इसकी प्रत्येक यज्ञमें सबसे पहले पूजा होगी। महादेवजी बोले, 'इस गणेशके ही अग्रपूजनसे सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हों'।

☞ यह कथा 'पूर्वकाल' किसी कल्पान्तरकी होगी। अथवा श्रीशिवजीने यहाँ आशीर्वादमात्र दिया जो आगे कुछ काल बाद श्रीरामनामके सम्बन्धसे सफल हुआ।

नोट—यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलङ्कार है, कही हुई बात सब जानते हैं।

जान आदिकबि नाम प्रतापू[1]। भयउ सुद्ध करि[2] उलटा जापू॥ ५॥

अर्थ—आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामनामका प्रताप जानते हैं (कि) उलटा नाम जपकर शुद्ध हो गये॥ ५॥

महर्षि वाल्मीकिजीकी कथा—आप प्रचेता ऋषिके बालक थे। बचपनहीमें भीलोंका सङ्ग हो जानेसे उन्हींमें आपका विवाह भी हुआ, ससुरालहीमें रहते थे, पूरे व्याधा हो गये, ब्राह्मणोंको भी न छोड़ते थे, जीवहत्या करते और धन-वस्त्रादि छीनकर कुटुम्ब पालते। एक बार सप्तर्षि उधरसे आ निकले, उनपर भी हाथ चलाना चाहा।...... ऋषियोंके उपदेशसे आपकी आँखे खुलीं। तब दीनतापूर्वक उनसे आपने अपने उद्धारका उपाय पूछा, उन्होंने 'राम-राम' जपनेको कहा। पर 'राम-राम' भी आपसे उच्चारण करते न बना, तब ऋषियोंने दया करके इनको 'मरा-मरा' जपनेका उपदेश किया। इनका विस्तृत वृतान्त दोहा ३ (३) और सोरठा १४ *'बंदउँ मुनिपदकंज......'* में दिया जा चुका है।

नोट—१ *'जान नाम प्रतापू'* इति। उलटा नाम जपनेका यह फल प्रत्यक्ष देखा कि व्याधासे मुनि हो गये, ब्रह्मसमान हो गये, फिर ब्रह्माजीके मानस पुत्र हुए। 'मरा-मरा' जपका यह प्रताप है, तब साक्षात् 'राम-राम' जपनेका क्या फल होगा, कौन कह सकता है? अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ में उलटे नामजपका प्रमाण है। यथा—'**राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्। यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥**' (६४) अर्थात् हे राम! आपके नामके प्रभावसे ही मैं ब्रह्मर्षित्व पदवीको प्राप्त हुआ, इस नामकी महिमा कोई कैसे वर्णन कर सकता है। पुनश्च यथा— '**इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥**' (८०) अर्थात् सप्तर्षियोंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा कि तू यहीं रहकर एकाग्रचित्तसे सदा 'मरा-मरा' जपा कर।☞ स्वयं उलटा नाम जपनेका प्रताप देखा, इसीसे *'जान नाम प्रतापू'* कहा।

नोट—२ *'भयउ सुद्ध करि उलटा जापू'* इति। (क) मरा-मरा जपकर उसी शरीरमें व्याधासे मुनि हो गये। वाल्मीकि मुनि नाम हुआ। यथा—*'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥'* (२। १९४), *'महिमा उलटे नामकी मुनि कियो किरातो।'* (विनय० १५१), *'रामु बिहाइ 'मरा' जपतें बिगरी सुधरी कबिकोकिलहू की।'* (क० ७। ८९), *'जहाँ बालमीकि भए ब्याधते मुनिंदु साधु मरा मरा, जपे सिख सुनि रिषि सातकी।'* (क० ७। १३८)

नोट—३ उलटे नामके जपसे शुद्ध होना कहकर सूचित किया कि (१) जितने मन्त्र हैं, यदि वे नियमानुसार शुद्ध-शुद्ध न जपे जायँ तो लाभके बदले विघ्न और हानि ही होती है। परन्तु रामनाम ऐसा है कि अशुद्धका तो कहना ही क्या, उलटा भी जपनेसे लाभदायक—कल्याणकारक ही होता है। (२) 'राम' नामका प्रत्येक अक्षर महत्त्वका है। (३) इनको इतनी ब्रह्महत्या और जीवहत्या लगी थी कि शुद्धि किसी प्रकार न हो सकती थी सो ये भी नामके प्रतापसे शुद्ध हो गये।

नोट—४ शङ्का—सप्तर्षियोंने उलटा नाम जपनेको क्यों कहा?

समाधान—(क) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि मकाररूपी जीवको प्रथम उच्चारण कराके 'रा' आह्लादिनीशक्तियुक्त परब्रह्मकी शरणमें गिरानेका भाव मनमें रखकर 'मरा-मरा' जपनेको कहा। (ख) कोई यह कहते हैं कि 'मरा-मरा' कहते-कहते 'राम-राम' निकलता ही है, यह समझकर उलटा नाम जपनेको कहा। (ग) वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'मन्त्र देनेसे गुरु-शिष्यमें पाप-पुण्य आधो-आध बँट जाते हैं;

१— प्रभाऊ—१७२१, १७६२। प्रतापू—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०। २— कहि उलटा नाँउ—१७२१, १७६२। करि उलटा जापू—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०।

इसीसे सप्तर्षियोंने उन्हें मन्त्र न दिया। परन्तु शरणागतको त्यागना भी नहीं चाहिये, इसीसे 'मरा-मरा' जपनेका उपदेश दिया कि मन्त्र भी न हुआ और तीसरी बार वही उलटा नाम 'राम' होकर शरणागतका कल्याण भी कर दे।'

नोट—५ इस दोहे (१९) में श्रीरामनाममाहात्म्य जाननेवालोंमें श्रीशिवजीका परिवार गिनाया गया पर सबको एक साथ न कहकर बीचहीमें महर्षि वाल्मीकिजीका नाम दिया गया है। इसका भाव महानुभाव यह कहते हैं कि (क) यहाँ तीन अर्धालियोंमें तीन प्रकारसे नाममाहात्म्य बताया है, शिवजी सादर जपते हैं। यथा—*'सादर जपहु अनँग आराती।'* (१।१०८) गणेशजीने पृथ्वीपर ही नाम लिखकर परिक्रमा कर ली, शुद्धता-अशुद्धता आदिका विचार न किया और वाल्मीकिजीने उलटा ही नाम जपा। सारांश यह है कि आदरसे शुद्धता वा अशुद्धतासे, सीधा वा उलटा कैसे ही नाम जपो, वह सर्वसिद्धियों और कल्याणको देनेवाला है। इसलिये महत्त्वके विचारसे इन तीनोंके नाम साथ-साथ दिये गये। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि गणेशजी और वाल्मीकिजीकी प्रथम दशा एक-सी थी, इसलिये गणेशजीके पीछे प्रथम इनका नाम दिया। यथा—*'राम-नामको प्रभाउ पूजियत गनराउ कियो न दुराउ कही आपनी करनि।'* (विनय०) [आनन्द रामायण राज्यकाण्डमें श्रीगणेशजीने अपनी पूर्व दशा श्रीसनत्कुमारजीसे यों कही है कि मैं प्रथम गजरूपसे महाकाय पैदा हुआ और वृक्षोंको उखाड़-उखाड़कर मुनियोंको मारता था। इस तरह बहुत-से मुनियोंके मारे जानेसे ब्राह्मणोंमें हाहाकार मच गया और ब्रह्महत्याओंसे वेष्टित होकर मैं मूर्च्छित हो गया। तब मेरी दशा देखकर मेरे पिताने श्रीरामजीका स्मरण किया। भगवान् सर्व उरवासी जगत्के स्वामी श्रीरामजी प्रकट हो गये और बोले—'हे महादेव! तुम तो समर्थ हो ही, फिर भी क्या चाहते हो, कहो। मैं प्रसन्न हूँ। त्रैलोक्यमें भी दुर्लभ जो तुम्हारा मनोरथ होगा वह मैं तुम्हें दूँगा।' शिवजीने कहा कि यदि आपकी मुझपर दया है तो ब्रह्महत्याओंसे युक्त इस पुत्रको पापरहित कर दीजिये। भगवान्की कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखते ही मैं सचेत होकर उठ बैठा और दण्डवत् प्रणाम कर मैंने उनकी स्तुति की। उन्होंने कृपा करके अपने सहस्रनामका उपदेश मुझे दिया जिसे ग्रहणकर मैं निष्पाप हो गया। (पूर्वार्ध सर्ग १ श्लोक १४—२४)] (ग) श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीके बीचमें दोनोंको देकर सूचित किया कि श्रीरामनाम और चरितके सम्बन्धसे वाल्मीकिजी दोनोंको गणेशजीके समान प्रिय हैं।

नोट—६ इस चौपाईमें तीन बातें कही गयी हैं। वाल्मीकिजीका 'आदि कवि' होना, वाल्मीकिजीका नामप्रताप जानना और उलटे जपसे शुद्ध होना। पूर्व इनका नाम तीन बार तीन प्रसङ्गोंके सम्बन्धमें आ चुका है। प्रथम वार मङ्गलाचरणमें **'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ'**। दूसरी बार सत्सङ्गकी महिमाके वर्णनमें दृष्टान्तरूपमें। तीसरी बार रामायणके रचयिता होनेसे और यहाँ उलटा नाम जपकर शुद्ध होने, नाम-प्रताप जानने और उसीके प्रभावसे आदिकवि होनेके प्रसङ्गमें उनका नाम आया है।

वाल्मीकिजी 'आदिकवि' कहे जाते हैं। इसके प्रमाण ये हैं। **'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥'** (५), **'तथा च आदिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरविरहकातर-क्रौञ्चयाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।'** (ध्वन्यालोक उद्योत १), **'पद्मयोनिरवोचत्—ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि तद्ब्रूहि रामचरितं……। आद्यः कविरसि इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः।'** (उत्तररामचरित-अङ्क २) वाल्मीकीय रामायणके प्रत्येक सर्गके अन्तमें **'इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये'** ये शब्द रहते ही हैं।

इसपर शङ्का होती है कि 'इनको 'आदिकवि' कैसे कहा, जब कि इनके पूर्व भी छन्दोबद्ध वाणी उपलब्ध थी?' वेदोंमें वैदिक छन्द तो होते ही हैं परन्तु ऐसे भी कुछ मन्त्र हैं कि जिनको हम अनुष्टुप् छन्दमें पढ़ सकते हैं। जैसे कि **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा……'** (ऋग्वेद पुरुषसूक्त ऋचा १) उपनिषदोंमें भी श्लोकोंका उल्लेख मिलता है। यथा—**'अत्रैते श्लोका भवन्ति।'**, **'अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिविश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥'** (रा० उ० ता० १) इत्यादि।

कम-से-कम कुछ स्मृतियाँ भी वाल्मीकिजीके पूर्व होंगी ही और स्मृतियाँ प्रायः छन्दोबद्ध हैं। फिर वाल्मीकीयके ही कुछ वाक्योंसे भी श्लोकोंका लोकमें व्यवहार सिद्ध होता है। जैसे कि '**कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्। ऐति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥**' (६। १२६। २) (श्रीभरतजी कह रहे हैं कि यह जो कहावत लोकमें कही जाती है वह सत्य ही है कि यदि मनुष्य जीवित रहे तो सौ वर्षके पश्चात् भी उसे एक बार आनन्द अवश्य मिलता है। इसमें जो यह कहावत 'ऐति जीवन्त''''दपि' कही गयी है वह श्लोकबद्ध है); '**श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा। पाशहस्तान्नरान्दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम॥**' (६। १६। ६।८) इत्यादि। (अर्थात् पद्मवनमें हाथियोंको भी यह श्लोक गाते हुए सुना गया है''''। इसमें भी पूर्व श्लोकोंका व्यवहार कहा गया है।) पुनः, स्वयं वाल्मीकिजीके मुखसे व्याधाके शापरूपमें जो श्लोक निकला था उस प्रसङ्गके पश्चात् उनके ये वाक्य हैं— '**पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः। शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥**' (१। २। १८) (अर्थात् जिनके चरणोंमें समान अक्षर हैं ऐसे चार चरणोंमें बद्ध ताल आदिमें गानेयोग्य यह श्लोक शोकके कारण मेरे मुखसे निकल पड़ा है। यह श्लोक ही कहा जायगा।) इससे भी वाल्मीकीयके पूर्व श्लोकका होना सिद्ध होता है।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि लोक और वेदोंमें इनके पहले छन्दोबद्ध वाणीका प्रचार पाया जाता है तथापि मनुष्योंके द्वारा काव्य और इतिहासकी जैसी रचना होती है, वैसी इनके पूर्व न थी। इस प्रकारकी रचना इन्हींसे प्रारम्भ हुई। इसीसे इनको 'आदिकवि' कहा जाता है।

नोट—७ उलटे जापसे शुद्ध हुए, यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है। यथा—***'और वस्तु के गुणन ते और होत गुणवान।'*** (अ० मं०)

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी॥ ६॥

अर्थ—श्रीशिवजीके ये वचन सुनकर कि एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनामके समान है, श्रीपार्वतीजी (तबसे बराबर श्रीरामनामको) अपने प्रियतम पतिके साथ सदा जपती हैं॥ ६॥

नोट—श्रीपार्वतीजीकी इस प्रसङ्गके सम्बन्धकी कथा पद्मपुराणउत्तरखण्ड अ० २५४ में इस प्रकार है। श्रीपार्वतीजीने श्रीवामदेवजीसे वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा ली थी। एक बार श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा कि हम कृतकृत्य हैं कि तुम ऐसी वैष्णवी भार्या हमें मिली हो। तुम अपने गुरु महर्षि वामदेवजीके पास जाकर उनसे पुराणपुरुषोत्तमकी पूजाका विधान सीखकर उनका अर्चन करो। श्रीपार्वतीजीने जाकर गुरुदेवजीसे प्रार्थना की तब वामदेवजीने श्रेष्ठ मन्त्र और उसका विधान उनको बताया और विष्णुसहस्रनामका नित्य पाठ करनेको कहा। यथा—'**इत्युक्तस्तु तया देव्या वामदेवो महामुनिः। तस्यै मन्त्रवरं श्रेष्ठं ददौ स विधिना गुरुः॥**' (११), **नाम्नां सहस्रविष्णोश्च प्रोक्तवान् मुनिसत्तमः।**'

एक समयकी बात है कि द्वादशीको शिवजी जब भोजनको बैठे तब उन्होंने पार्वतीजीको साथ भोजन करनेको बुलाया। उस समय वे विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रही थीं, अतः उन्होंने निवेदन किया कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब शिवजी बोले कि तुम धन्य हो कि भगवान् पुरुषोत्तममें तुम्हारी ऐसी भक्ति है और कहा कि '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। तेन रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**' (२१), **राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥**' (२२)''''''**रामेत्युक्त्वा महादेवि भुङ्क्ष्व सार्धं मयाधुना॥**' (२३) (अर्थात् योगीलोग अनन्त सच्चिदानन्द परमात्मामें रमते हैं, इसीलिये 'राम' शब्दसे परब्रह्म कहा जाता है॥ २१॥ हे रमे (सुन्दरि)! मैं राम-राम इस प्रकार जप करते हुए अति सुन्दर श्रीरामजीमें अत्यन्त रमता हूँ। तुम भी अपने मुखमें इस राम-नामका वरण करो, क्योंकि विष्णुसहस्रनाम इस एक रामनामके तुल्य है॥ २२॥ अतः महादेवि! एक बार 'राम' ऐसा उच्चारण कर मेरे साथ आकर भोजन करो॥ २३॥) यह सुनकर श्रीपार्वतीजीने 'राम' नाम एक बार उच्चारण कर शिवजीके साथ भोजन कर लिया और तबसे पार्वतीजी बराबर

श्रीशिवजीके साथ नाम जपा करती हैं। यथा—*वसिष्ठ उवाच*— 'ततो रामेति नामोक्त्वा सह भुक्त्वाथ पार्वती। रामेत्युक्त्वा महादेवि शम्भुना सह संस्थिता॥'(२४)

नोट—१ सं० १६६१ की प्रतिमें पहले *'जपि जेईं'* पाठ था। पद्म० पु० अ० २५४ के अनुसार यह पाठ भी सङ्गत है, क्योंकि 'राम रामेति……' यह श्लोक भोजन करनेके पूर्वहीका है, न कि पीछेका। सं० १६६१ में *'जपि जेईं'* पर हरताल देकर *'जपति सदा'* पाठ बनाया गया है। यह पाठ भी उपर्युक्त कथासे सङ्गत है, क्योंकि उसी समयसे सदा 'राम' नाम वे जपने लगीं। इस पाठमें विशेषता है कि विष्णुसहस्रनामका पाठ तबसे छोड़ ही दिया गया और उसके बदले श्रीराम-नाम ही सदा जपने लगीं। इस कथनमें नामके महत्त्वका गौरव विशेष जानकर ही गोस्वामीजीने पीछे इस पाठको रखा। गोस्वामीजीने यह पूर्व भी लिखा है। यथा—*'मंगलभवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥'* (१। १०। २) *'जपि जेईं'* पाठका अर्थ होगा 'पतिके साथ जाकर भोजन कर लिया'। इस पाठसे यह भाव नहीं निकलता कि तबसे फिर 'विष्णुसहस्रनामका' पाठ छोड़ दिया, श्रीरामनाम ही जपने लगीं। इस पाठमें *'जपति सदा'* वाला महत्त्व नहीं है।

नोट—२ *'सिव बानी'* इति। शिववाणी कहनेका भाव यह है कि यह वाणी कल्याणकारी है, ईश्वरवाणी है, मर्यादायुक्त है; इसीसे बेखटके श्रीपार्वतीजीको निश्चय हो गया। वे जानती हैं कि *'संभु गिरा पुनि मृषा न होई।'* (सत्यशब्दार्थप्रकाश)

नोट—३ पद्मपुराणकी उपर्युक्त कथासे यह शङ्का भी दूर हो जाती है कि 'क्या पतिके रहते हुए स्त्री दूसरेको गुरु कर सकती है?' जगद्‌गुरु श्रीशङ्करजीके रहते हुए भी श्रीपार्वतीजीने वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा महर्षि वामदेवजीसे ली। श्रीनृसिंहपुराणमें श्रीनारदजीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे कहा है कि पतिव्रताओंको श्रीरामनाम-कीर्तनका अधिकार है, इससे उनको इस लोक और परलोकका सब सुख प्राप्त हो जाता है। यथा— 'पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्वशोभते॥' (सी० ना० प्र० प्र०)

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥ ७॥

शब्दार्थ—**हेतु**=प्रेम। **ही** (हिय)=हृदय। **ती**=स्त्री।

अर्थ—उनके हृदयके प्रेमको देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि अपनी स्त्री पार्वतीजीको अपना भूषण बना लिया। (अर्थात् जैसे आभूषण शरीरमें पहना जाता है, वैसे ही इनको अङ्गमें धारण करके अर्धाङ्गिनी बना लिया)॥ ७॥

☞ श्रीपार्वतीजीका पातिव्रत्य और अनन्यता उनके जन्म, तप एवं सप्तर्षिद्वारा परीक्षामें आगे ग्रन्थकारने स्वयं विस्तारसे दिखायी है।

नोट—१ *'हरषे हेतु हेरि……'* इति। श्रीरामनाम और अपने वचनमें प्रतीति और प्रीति देखकर हर्ष हुआ। इसमें यह भी ध्वनि है कि सतीतनमें इनको सन्देह हुआ था यथा—*'लाग न उर उपदेसु……।'* (१। ५१) और अब इतनी श्रद्धा।

नोट—२ यहाँतक चौपाई ४, ५, ६, ७ में गणेशजी, वाल्मीकिजी और पार्वतीजीके द्वारा 'राम' नामका माहात्म्य यह दिखाया है कि (क) सीधेमें जो फल देते हैं, वही उलटेमें भी देते हैं। (ख) जो फल धर्मात्माको देते हैं, वही पापीको और (ग) जो फल पुरुषको देते हैं वही स्त्रीको भी। (पं० रा० कु०)

नोट—३ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'ईश्वर हृदयके स्नेहको देखकर प्रसन्न होते हैं। इनकी प्रसन्नता निष्फल नहीं होती, फलदात्री होती है। इसलिये यहाँ फलका देना भी लिखते हैं, वह यह कि भूषण बना लिया।'

नोट—४ *'किय भूषन तिय भूषन ती को'* के और अर्थ ये हैं:—

अर्थ—२ *'तीय भूषण'* श्रीशिवजीने अपनी स्त्री (पार्वतीजी) को भूषण बना लिया। भाव यह कि अभीतक तो शिवजी *'तीय भूषण'* थे, क्योंकि स्त्रीका भूषण पति होता ही है, परन्तु अब श्रीशिवजीने

उनकी श्रीरामनाममें प्रीति देखकर उन्हें अपने भूषणयोग्य समझा। यहाँ *'तीय भूषण'* श्रीशिवजीका एक नाम है। उसके अनुसार यह अर्थ किया जाता है।

अर्थ—३ श्रीपार्वतीजीको श्रेष्ठ स्त्रियोंका भूषण कर दिया। भाव यह कि जितनी स्त्रियाँ स्त्रियोंमें भूषणरूपा थीं, उन सबोंकी शिरोमणि बना दिया। यहाँ, **'तीयभूषण'**=स्त्रियोंमें श्रेष्ठ वा शिरोमणि अर्थात् पतिव्रता स्त्रियाँ। इस अर्थसे यह जनाया कि पार्वतीजी सती स्त्रियोंमें शिरोमणि इस प्रसङ्गके सम्बन्धसे हुईं, पहले न थीं। यह बात रामरसायन-विधान ४ विभाग ८ में श्रीअनसूयाजीसे सतीत्वकी ईर्ष्या करके पराजित होने तथा पद्मपुराणमें सवतियाडाहके कारण पद्मादेवीसे घोर एवं अतिकालिक कलह आदि करनेकी कथाओंसे सिद्ध होती है कि वे श्रीरामनामजपके पूर्व तियभूषण नहीं थीं। श्रीरामनाममें प्रतीति और प्रीति होनेपर ही वे *'पतिदेवता सुतीय महँ प्रथम'* रेखावाली हुईं। नृसिंहपुराणमें भी कहा है कि श्रीरामनाममें अत्यन्त प्रेम रखनेवाली स्त्रियोंको पुत्र, सौभाग्य और पतिका प्रियत्व प्राप्त होता है। यथा—**'रामनामरता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥'** (सी० रामनामप्रतापप्रकाश)

नोट—५ *'हरषे......'* में 'श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार' है, क्योंकि एक ही स्थानसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंसे बने हुए शब्दोंका यहाँ प्रयोग हुआ है।

नोट—६ पातिव्रत्य धर्म स्त्रियोंका सर्वश्रेष्ठ धर्म है। उसके पालनसे उनको इस लोकमें पतिप्रेम और अन्तमें परलोककी प्राप्ति होती है। श्रीपार्वतीजी पतिव्रता तो थीं ही, परन्तु पतिका इतना विशेष प्रेम जो इनपर हुआ कि अर्धाङ्गिनी बना लिया, यह उनका श्रीराम-नाममें इतना प्रेम देखकर ही हुआ। इस वाक्यसे ग्रन्थकार स्त्रियोंको उपदेश देते हैं कि उनको श्रीराम-नामका भी जप करना चाहिये।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥ ८॥

अर्थ—श्रीशिवजी नामका प्रभाव भलीभाँति जानते हैं (कि जिससे) हालाहल विषने उनको अमृतका फल दिया॥ ८ ॥

नोट—१ *'नाम प्रभाउ जान सिव नीको'* इति। 'नीको'=भलीभाँति। शिवजी सबसे अधिक इसके प्रभावको जानते हैं तभी तो *'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम-घृतु है',* (विनय० २५४) *'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'* (१। २५) और अहर्निश *'सादर जपहिं अनँग आराती'।* देखिये, सागर मथते समय सभी देवगण वहाँ उपस्थित थे और सभी नामके परत्व और महत्त्वसे अभिज्ञ थे, तब औरोंने क्यों न पी लिया? कारण स्पष्ट है कि वे सब श्रीरामनामके प्रतापको 'नीकी' भाँति न जानते थे। जैमिनिपुराणमें भी इसका प्रमाण है; यथा—**'रामनाम परं ब्रह्म सर्वदेवप्रपूजितम्। महेश एव जानाति नान्यो जानाति वै मुने॥'** (करु०) पद्मपुराणमें एक श्लोक ऐसा भी है, **'रामनामप्रभावं यज्जानाति गिरिजापतिः। तदर्धं गिरिजा वेत्ति तदर्धमितरे जनाः॥'** (वे० भू०) अर्थात् राम-नामका प्रभाव जो शिवजी जानते हैं, गिरिजाजी उसका आधा जानती हैं और अन्य लोग उस आधेका भी आधा जानते हैं।

नोट—२ *'कालकूट फल दीन्ह अमी को'* इति। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अध्याय ५ से ७ तकमें यह कथा दी है कि 'छठे मन्वन्तरमें नारायणभगवान् अजितनामधारी हो अपने अंशसे प्रकट हुए देवासुरसंग्राममें दैत्य देवताओंका विनाश कर रहे थे। दुर्वासा ऋषिको विष्णुभगवान्ने मालाप्रसाद दिया था। उन्होंने इन्द्रको ऐरावतपर सवार रणभूमिकी ओर जाते देख वह प्रसाद उनको दे दिया। इन्द्रने प्रसाद हाथीके मस्तकपर रख दिया जो उसने पैरोंके नीचे कुचल डाला। इसपर ऋषिने शाप दिया कि 'तू शीघ्र ही श्रीभ्रष्ट हो जायगा।' इसका फल तुरन्त उन्हें मिला। संग्राममें इन्द्रसहित तीनों लोक श्रीविहीन हुए। यज्ञादिक धर्मकर्म बन्द हो गये। जब कोई उपाय न समझ पड़ा, तब इन्द्रादि देवता शिवजीसहित ब्रह्माजीके पास सुमेरु शिखरपर गये। इनका हाल देख-सुन ब्रह्माजी सबको लेकर क्षीरसागरपर गये और एकाग्रचित्त हो परमपुरुषकी स्तुति करने लगे और यह भी प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हमको उस मनोहर मूर्तिका शीघ्र दर्शन दीजिये, जो हमको अपनी इन्द्रियोंसे प्राप्त हो सके।' भगवान् हरिने दर्शन दिया, तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की कि

'हमलोगोंको अपने मङ्गलका कुछ भी ज्ञान नहीं है, आप ही उपाय रचें, जिससे सबका कल्याण हो।' भगवान् बोले कि 'हे ब्रह्मा ! हे शम्भुदेव! हे देवगण! वह उपाय सुनो, जिससे तुम्हारा हित होगा। अपने कार्यकी सिद्धिमें कठिनाई देखकर अपना काम निकालनेके लिये शत्रुसे मेल कर लेना उचित होता है। जबतक तुम्हारी वृद्धिका समय न आवे तबतकके लिये तुम दैत्योंसे मेल कर लो। दोनों मिलकर अमृत निकालनेका प्रयत्न करो। क्षीरसागरमें तृण, लता, ओषधि, वनस्पति डालकर सागर मथो। मन्दराचलको मथानी और वासुकिको रस्सी बनाओ। ऐसा करनेसे तुमको अमृत मिलेगा। सागरसे पहले कालकूट निकलेगा, उससे न डरना, फिर रत्नादिक निकलेंगे इनमें लोभ न करना""'। यह उपाय बताकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास सन्धिके लिये गये।"" समुद्र मथकर अमृत निकालनेकी इन्द्रकी सलाह दैत्य-दानव सभीको भली लगी। सहमत हो दानव, दैत्य और देवगण मिलकर मन्दराचलको उखाड़ ले चले। राहमें थक जानेसे पर्वत गिर पड़ा। उनमेंसे बहुतेरे कुचल गये। इनका उत्साह भङ्ग हुआ देख भगवान् विष्णु गरुड़पर पहुँच गये।"" और लीलापूर्वक एक हाथसे पर्वतको उठाकर गरुड़पर रख उन्होंने उसे क्षीरसागरमें पहुँचा दिया। वासुकिको अमृतमें भाग देनेका लालच देकर उनको रस्सी बननेको उत्साहित किया गया।"" मन्दराचलको जलपर स्थित रखनेके लिये भगवान्ने कच्छपरूप धारण किया। जब बहुत मथनेपर भी अमृत न निकला, तब अजितभगवान् स्वयं मथने लगे। पहले कालकूट निकला जो सब लोकोंको असह्य हो उठा, तब (भगवान्का इशारा पा) सब मृत्युञ्जय शिवजीकी शरण गये और जाकर उन्होंने उनकी स्तुति की। भगवान् शङ्कर करुणालय इनका दुःख देख सतीजीसे बोले कि 'प्रजापति महान् संकटमें पड़े हैं, इनके प्राणोंकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। मैं इस विषको पी लूँगा जिसमें इनका कल्याण हो।' भवानीने इस इच्छाका अनुमोदन किया। (सन्त श्रीगुरुसहायलाल शेषदत्तजीके खर्रेमेंसे यह श्लोक देते हैं—'**श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्। हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भयम्॥**' शिवजीने उस सर्वतोव्याप्त कालकूटको हथेलीपर रखकर पी लिया। नन्दीपुराणमें नन्दीश्वरके वचन हैं कि '**शृणुध्वं भो गणास्सर्वे रामनाम परं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहलमयीं पिबेत्॥**' (१) '**जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥**' (२)

कई टीकाकारोंने लिखा है कि 'रा' उच्चारणकर शिवजीने हालाहलविष कण्ठमें धर लिया और फिर 'म' कहकर मुख बन्द कर लिया। इस दीनको इसका प्रमाण अभीतक नहीं मिला।

नोट—३ *'फल दीन्ह अमी को'* इति। विषपानका फल मृत्यु है, पर आपको वह विष भी श्रीराम-नामके प्रतापसे अमृत हो गया; यथा—*'खायो कालकूट भयो अजर अमर तन।'* (क० ७। १५८) इस विषकी तीक्ष्णतासे आपका कण्ठ नीला पड़ गया जिससे आपका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ा। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है। जहाँ विरोधी अपने अनुकूल हो जावे, अन्यथाकारी यथाकारी हो जावे, जैसे यहाँ मारनेवाले विषने रामनामके प्रतापसे अमृतका फल दिया, वहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' होता है। *'एकहि वस्तु जहाँ कहूँ करै सुकाज विरुद्ध। प्रथम तहाँ व्याघात कहि बरनै कवि मति शुद्ध॥'* (अ० मञ्जूषा)

टिप्पणी—पं० रामकुमारजी यहाँतक ८ चौपाइयोंपर ये भाव लिखते हैं कि (१) *'बंदउँ नाम राम रघुबर को।.... अगुन अनूपम गुननिधान सो'* में मन्त्रके स्वरूपकी बड़ाई की। फिर यहाँतक जापकद्वारा मन्त्रकी बड़ाई की। ऊपर शिवजीका जपना कहा। अब मन्त्रके फलकी प्राप्ति कहते हैं कि *'कालकूट फल दीन्ह अमी को'।* (२) 'शिवजीको आदि-अन्तमें दिया क्योंकि ये जापकोंमें आदि हैं और फलके अवधि हैं कि अविनाशी हो गये।' (३) इस दोहेमें दिखाया है कि जो पञ्चदेव सूर्य, शिव, गिरिजा (शक्ति), गणपति और हरि जगत्का उपकार करते हैं, उनका उपकार भी श्रीराम-नाम करते हैं। सूर्यके प्रकाशक हैं, यह बात *'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'* इस चौपाईमें जनायी। इसी तरह *'कालकूट फल दीन्ह अमी को'* से शिवजीको अविनाशी करना, *'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ'* से गणेशजीको आदि पूज्य बनाना *'बिधिहरिहरमय'* से हरिको उत्पन्न करना और *'जपति सदा पिय संग भवानी""किय भूषन ती को'* से भवानीके साथ उपकार

सूचित किया।' *'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा'* से पार्वतीजीकी श्रद्धा और *'कालकूट फल'*...... से शिवजीका अटल विश्वास दिखाया। इसीसे श्रद्धा और विश्वासको साथ रखा।

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि इस दोहेमें चारों प्रकारके नामके अर्चारूप कहे गये, स्वयंव्यक्त, दिव्य, सैद्ध और मानुष्य। जैसे श्रीशिवजीके हृदयमें 'स्वयंव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि इन्हें स्वयं नामका ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजीके हृदयमें इसी विश्वास तथा ज्ञानको महादेवजीने स्थापित किया। अत: 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिजीके हृदयमें सप्तर्षि सिद्धोंने स्थापित किया; अत: 'सैद्ध' हुआ। गणेशजीने स्वयं (अपने-आप) पृथिवीपर लिखकर और नाममूर्त्ति निर्माणकर परिक्रमा करके फल पाया। अत: यहाँ 'मानुष्य' हुआ।'

यद्यपि यहाँ नामका प्रकरण है, न कि नामीका, तथापि गणेशजीने जो पृथ्वीपर नाम लिखा था उसको नामका अर्चाविग्रह मानकर यह कल्पना की गयी है। कल्पना सुन्दर है। पूर्वोक्त शिवजी, पार्वतीजी और वाल्मीकिजी यदि वर्णात्मक नामका ध्यान करते हों तो उनके विषयमें भी यह कल्पना ठीक हो सकती है। क्योंकि मानसिक मूर्तिका भी अर्चाविग्रहमें ग्रहण होता है। जो विग्रह देवताओंके द्वारा स्थापित किया जाय वह 'दैव', जो सिद्धोंद्वारा स्थापित किया जाय वह 'सैद्ध' और जो मनुष्यके द्वारा स्थापित किया जाय उसे 'मानुष्य' कहा जाता है। श्रीगणेशजी देवता हैं इसलिये उनके द्वारा स्थापित विग्रहको 'दैव' विग्रह कहना विशेष ठीक होगा। चारोंको लाना हो तो शिवजी सिद्ध हैं ही अत: उनके द्वारा स्थापितको 'सैद्ध' और वाल्मीकिजी मनुष्य हैं अत: उनका 'मानुष्य' मान ले सकते हैं।

पुन:, श्रीपण्डितजी लिखते हैं कि 'इन आठ चौपाइयोंके अभ्यन्तर यह भाव दिखाया गया है कि शिवजीसे उतरकर गणेशजी नामप्रभाव जानते हैं। गणेशजी और वाल्मीकिजी दोनोंने बहुत ब्रह्महत्या की थी, दोनों नामसे पवित्र हुए, एक आदिपूज्य हुए, दूसरे आदिकवि, इसलिये दोनोंको एकत्र रखा। आगे फिर पार्वतीजीको शिवजीके समीप लिखते हैं।'

दोहा—बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव* मास॥१९॥

शब्दार्थ—सालि=धान। आयुर्वेदशास्त्रके अनुसार पाँच प्रकारके धानोंमेंसे यह एक प्रकारका धान है जो हेमन्त-ऋतुमें होता है। इसके भी अनेक भेद कहे जाते हैं। शालिधानको जड़हन और वासमती भी कहते हैं। यह प्राय: जेठ मासमें बोया जाता है। फिर श्रावणमें उखाड़कर रोपा जाता है। श्रावण-भादोंकी वर्षा इसकी जान है। यह अगहनके अन्त या पौषके आरम्भमें पककर तैयार हो जाता है। यह धान बहुत बारीक और सुन्दर होता है। इसका चावल सबसे उत्तम माना जाता है।

अर्थ—श्रीरघुपति भक्ति वर्षा-ऋतु है; तुलसी और सुन्दरदास 'शालि' नामक धान हैं। श्रीरामनामके दोनों श्रेष्ठ वर्ण सावन-भादोंके महीने हैं॥ १९॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'ऊपर चौपाइयोंमें कुछ भक्तोंको सुख देना कहा था और अब सब भक्तोंको सुख देना कहते हैं। यहाँ सुख ही जल है। यथा—*'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी।'*

नोट—२ यहाँ गोस्वामीजी अपनेको भी 'धान' सम कहते हैं। यथा—*'श्यामघन सींचिए तुलसी सालि सफल सुखात'* (वि० २२१) यह कवियोंकी उक्ति है। (श्रीरूपकलाजी) प्राय: लोग यह अर्थ करते हैं कि 'तुलसीदासजी कहते हैं कि 'सुदास धान हैं'।

नोट—३ *'तुलसी सालि सुदास'* इति। जबतक सावन-भादोंकी झड़ी न लगे, शालि नामक धान नहीं होता; वैसे ही श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि उत्तम दासोंका और मेरा भी आधार श्रीराम-नामके दोनों अक्षर 'रा', 'म' ही हैं, इन्हींकी वृष्टि अर्थात् जिह्वासे निरन्तर जपनेसे ही अपना जीवन है। यथा—*'रामनाम तुलसी*

* व्यासजी और रामायणीजीका पाठ 'भादौं' है।

को जीवन अधार रे' (वि० ६७) *'तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिबे को बैठें उठे जागत बागत सोये सपने'* (क० उ० ७८) *'अति अनन्य जे हरिके दासा। रटहिं नाम निसिदिन प्रति स्वासा॥'* (वैराग्यसंदीपनी) 'रामनाम' छोड़ और जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं वे और अन्नों (चना, गेहूँ, ज्वार इत्यादि) के समान हैं जो और महीनोंके जल अथवा सींचसे भी हो जाते हैं। शालि अन्य सब धान्योंसे उत्तम होता है, इसीसे उत्तम दासोंको ही शालि कहा, अन्यको नहीं।

पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि 'जैसे और महीनोंकी वर्षासे कदापि धानकी उपज नहीं होती, वैसे ही भक्ति भक्तोंके दुःखको हरन नहीं कर सकती, यदि 'रामनाम' भक्तिकी आशाको पूर्ण न करे, तात्पर्य यह है कि बिना रामनामके अवलम्बके भक्ति असमर्थ है। ध्वनि यह है कि रामभक्ति होनेपर भी रामनाम ही भक्तोंको हराभरा रखता है'। (मानसमयङ्क)

नोट—४ वर्षाऋतुको भक्ति और युगाक्षरको श्रावण-भादों कहनेका भाव यह है कि (क) जैसे वर्षा चतुर्मासामें श्रावण-भादों दो महीने ही विशेष हैं, वैसे ही श्रीरामभक्तिमें 'रा', 'म' ही विशेष हैं। तात्पर्य यह कि भक्ति बहुत भाँतिकी है, परन्तु उन सबोंमें रामनामका निरन्तर रटना, जपना, अभ्यास—यही सबसे उत्तम भक्ति है, जैसे सावन-भादों ही वर्षाके मुख्य महीने हैं।

देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी और काशीनरेश दोनोंका मत भी यही है। रा० प० प० कार लिखते हैं कि वैद्यकादिमें वर्षा चार मासकी मानी गयी है। काष्ठजिह्वास्वामीजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि जैसे वर्षा ग्रीष्मसंतापसे जले हुए जीवोंको हरे करके सुफल कर देती है, वैसे ही जब रघुपतिभक्ति उत्पन्न हुई तब जीवोंके घोर संताप मिटे और जन्म सुफल हुआ; वर्षा चार मास रहती है, जिसमेंसे सावन-भादों दो मास सार हैं, इसी प्रकार भक्तिके साधन बहुत हैं परन्तु सार ये दो ही अक्षर हैं।' पुनः, (ख) प्राकृतिक अवस्थाओंके अनुसार वर्षके दो-दो महीनेके छः विभागको ऋतु कहते हैं। ऋतु छः हैं। इसके अनुसार वर्षाऋतु केवल······ सावन-भादोंके लिये प्रयुक्त होता है। इस तरह दोहेका भाव यह होता है कि जैसे वर्षाऋतु सावन-भादों दो ही महीनेकी होती है, वैसे ही 'रा', 'म' हीका नित्य स्मरण केवल यही रघुपति-भक्ति है, इससे बाहर रघुपति-भक्ति है ही नहीं। श्रावण-भादों और वर्षाऋतुमें अभेद है, वैसे ही रामनाम और रघुपति-भक्तिमें अभेद है। इन्हींपर उत्तम दासरूपी धानका आधार है। * पुनः (ग) सालमें छः ऋतु होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हिम, शिशिर। इनमेंसे वर्षाऋतु ही सबका पोषक है; रघुपतिभक्ति वर्षाऋतु है और श्रीगणेश, गौरी, शिव, सूर्य और विष्णु—इन पञ्चदेवोंकी भक्ति अन्य पाँच ऋतुएँ हैं। यथा—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥' 'रमारमन पद बंदि बहोरी।'* (अ० २७३) *'सब करि माँगहिं एक फल रामचरन रति होउ।'* (अ० १२९) श्रीरामभक्तिहीसे और भक्तियोंकी शोभा है; क्योंकि शिवजी, गणेशजी, पार्वतीजीका रामनाम ही जपना ऊपर कह आये हैं, सूर्य और विष्णुभगवान् भी रघुपतिभक्त हैं। यथा—*'दिनमनि चले करत गुन गाना।'* (१। १९६) *'हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥'* (१। ३१७)

नोट—५ ऊपर ४ (क) में *'बरषारितु'* का अर्थ वर्षाकाल चौमासा है, जैसा साधारण बोलीमें कहा और समझा जाता है, अन्य अर्थमें दोहार्थकी जो चोखायी वा सुन्दरता है वह नहीं रह जाती, क्योंकि जब कई वस्तु हों तभी उनमें कोई प्रधान कहा जा सकता है। रघुपतिभक्तिमें 'रा', 'म' तभी मुख्य कहे जा सकते हैं जब रघुपतिभक्ति ही कई तरहकी हो, सो वह नौ प्रकारकी है ही, पुनः आगे दोहा २२ में भी 'रामभक्ति' में नामको श्रेष्ठ माना है।

---

* वर्षाऋतु=रघुपतिभक्ति	रघुपति-भक्ति=श्रावण-भादों='र' 'म'
वर्षाऋतु=श्रावण-भादों	'र', 'म'=रघुपति-भक्ति।

अर्थात् रामनाम रटना ही रघुपति-भक्ति है।

नोट—६ *'बरन जुग सावन भादों मास'* का भाव यह भी कहते हैं कि जैसे सावन-भादों मेघकी झड़ी लगा देते हैं वैसे ही रामनामके वर्ण रामभक्तके हृदयरूपी थलपर प्रेमकी वर्षा करते हैं। सावन, भादोंकी वर्षासे धान बढ़ता और पुष्ट होता है, वैसे ही 'श्रीराम' नामके जपनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है।

नोट—७ पूर्व रकार, अकार, मकार तीनों अक्षरोंका माहात्म्य कहा, अब यहाँसे *'एक छत्र एक……'* तक 'रकार, मकार' इन दोनों अक्षरोंका माहात्म्य दूसरे प्रकारसे कहते हैं। (पं० रामकुमारजी)

नोट—८ यहाँ 'रा', 'म' पर श्रावण-भादों मास होनेका आरोप किया गया। सावन-भादों मास होनेकी सिद्धिके लिये पहले ही 'सुदास' और अपनेमें धान और रघुपतिभक्तिमें वर्षाका आरोप किया गया। अतएव यहाँ 'परम्परित रूपक' हुआ।

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥ १॥

शब्दार्थ—मनोहर=मन हरनेवाला, सुन्दर। बिलोचन=नेत्र, दोनों नेत्र, विशेष नेत्र। जन=भक्त, दास, जापक, प्राणी। जिय=हृदय, जी=जीव, प्राण। जोऊ=जो (वर्ण ही)।=देख लो (यह गुजरात प्रान्तकी बोली है)। यह शब्द 'जोहना' का अपभ्रंश जान पड़ता है। देखनेके अर्थमें बहुत जगह आया है। यथा—*'करि केहरि बन जाइ न जोई।'* (अ० ११२) *'अमित बसन बिनु जाहिं न जोए।'* (अ० ९१) *'भरी क्रोध जल जाइ न जोई।'* (अ० ३४) *'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ।'* (२।१९५)

अर्थ—१ दोनों अक्षर ('रा' और 'म') मधुर और मनोहर हैं। सब वर्णोंके नेत्र हैं और जो जनके प्राण भी हैं ॥ १॥ (पां०)

नोट—१ जैसे पूर्व दोहेमें जप और माहात्म्य जानना कहा, वैसे ही यहाँ कहते हैं। (पं० रामकुमारजी)

'आखर मधुर मनोहर दोऊ' इति। (१) नामका जप जिह्वा और मनसे होता है, सो जिह्वाके लिये तो 'मधुर' और मनके लिये 'मनोहर' हैं। अर्थात् उच्चारणमें 'मधुर' होनेसे जिह्वाको स्वाद मिलता है और समझनेमें अपनी सुन्दरतासे मनको (ये वर्ण) हर लेते हैं। (पं० रामकुमारजी)

[नोट—(क) *'दोऊ'* पद देकर यथासंख्यका निषेध किया। अर्थात् 'एक मधुर, दूसरा मनोहर' यह अर्थ नहीं है। (ख) प्राचीन ऋषियोंने इन्हें मधुर अनुभव किया है। इससे प्राचीन प्रमाण इनके मधुर होनेका पाया जाता है। यथा—**'हे जिह्वे ! मधुरप्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकं पीयूषं पिब प्रेमभक्तिमनसा हित्वा विवादानलम्। जन्मव्याधिकषायकामशमनं रम्यातिरम्यं परं श्रीगौरीशप्रियं सदैव शुभगं सर्वेश्वरं सौख्यदम्॥'** (श्रीसनकसनातनसंहिता); पुनः **'हे जिह्वे! जानकीजानेर्नाम माधुर्यमण्डितम्॥'** (श्रीहनुमत्संहिता) पुनः यथा—**'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥'** (वाल्मीकीय रामायण) अर्थात् हे जिह्वे! तू मधुरप्रिय है। अत्यन्त मधुर प्रेमभक्तिपूर्वक वादविवाद छोड़कर जन्मरोग और कामादिका शमन करनेवाले, अत्यन्त रम्य, श्रीशिवपार्वतीजीके प्रिय, सबके स्वामी, सदा सुख और शुभ गतिके देनेवाले श्रीरामनामरूपी अमृतको पान कर। (श्रीसनकसनातन सं०) हे जिह्वे! श्रीजानकीपतिका नाम माधुर्यसे युक्त है उसे ले। (श्रीहनुमत्-सं०) कवितारूपी शाखापर चढ़कर मधुर जिसके अक्षर हैं ऐसे मधुर रामनामको मधुर स्वरसे बोलनेवाले वाल्मीकिरूपी कोकिलको मैं प्रणाम करता हूँ। पुनः (ग) महाराज श्रीयुगलानन्यशरणजी 'श्रीनामकान्ति' में लिखते हैं कि *'पक्षपातकी बात नहीं निज नयननसे लखि लीजै। परखो प्रीति सजाय उभय पुनि रटत महा मधु पीजै॥ और नाम सुमिरत रसना दसबीस बारमें छीजै। युगलानन्य सुनाम राम नित रटत जीह रस भीजै॥'* इसके उदाहरणस्वरूप श्रीसियानागरशरण, गर्जनबाबा श्रीराघोदास, श्रीमौनीबाबा रामशरणजी, श्रीसीतारामदास सुतीक्ष्णजी, श्रीसीतारामशरणजी, श्रीरामकृष्णदासजी आदि कई महात्माओंका परिचय इस दासको हुआ जिनके जिह्वापर भी नाम सदा विराजता रहता है, इतना मधुर लगता है कि कोई कैसा ही प्रलोभन देकर भी उसे नहीं छुड़ा सकता।]

(२) 'य र ल व म' को व्याकरणमें बिलकुल व्यञ्जन ही नहीं किन्तु स्वरप्राय कहा है। व्यञ्जनोंकी

अपेक्षा स्वर तो मधुर होते ही हैं। जो मधुर होता है वह मनोहर भी होता ही है; ये दोनों गुण एक साथ होते हैं। अतः मधुर और मनोहर कहा। (श्रीरूपकलाजी)

(३) 'र' और 'म' ये दोनों अक्षर संगीतशास्त्र और व्याकरणशास्त्रमें मधुर माने गये हैं। 'र' ऋषभ स्वरका सूचक है और 'म' मध्यम स्वरका। संगीतज्ञ इन दोनों स्वरोंको मधुर मानते हैं और मधुर होनेसे मनोहर हैं; क्योंकि मधुर रसको सारा संसार चाहता है। व्याकरणशास्त्रानुसार 'र' मूर्द्धन्य और 'म' ओष्ठ्य अक्षर हैं। मिठाईका ठीक स्वाद ओठोंहीसे मिलता है। (यह अनुभवकी बात है, जो चाहे अनुभव करके देख ले कि मिठाई खानेसे हलक, तालू और जिह्वामें एक प्रकारकी जलन पैदा होती है; परन्तु ओठोंमें नहीं। 'म' को ओष्ठ्य इसलिये माना गया कि उसका उच्चारण तबतक स्पष्ट नहीं हो सकता जबतक दोनों ओठ विलग-विलग न हो जायँ।)

(४) प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि (क) 'र' और 'म' अक्षर 'मधुर' और 'मनोहर' शब्दोंके आदि और अन्तमें आते हैं। गोस्वामीजीका भाव इन शब्दोंके रखनेसे यह जान पड़ता है कि वे 'र' और 'म' को 'माधुरी' और 'मनोहरता' का आदि कारण और अन्तिम सीमा मानते थे। नहीं तो वे कोई अन्य शब्द भी रख सकते थे। (ख) गणितविद्यासे 'र' और 'म' की बाराखड़ियोंसे सीधे वा उलटे जितने भी शब्द बन सकते हैं, उन शब्दोंमें कुछ थोड़े तो निरर्थक होते हैं और कुछ ही अमधुर और अमनोहर। जो चाहे सो बनाकर देख ले; लगभग अस्सी प्रति सैकड़ा ऐसे शब्द बनेंगे जिनके अर्थसे किसी-न-किसी प्रकारकी मधुरता और मनोहरता प्रकट होती है।

(५) दोनों मधुर हैं; क्योंकि इनसे जिह्वाको रस मिलता है। मनोहर हैं अर्थात् मनको एकाग्र करते हैं। (पं०)

(६) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'ह ष झ ठ ध घ भ' गम्भीर योगियोंके लायक हैं, 'म न य र ल ज द ग अ' मधुर हैं, माधुर्यगुणके लायक हैं। पुनः स्वर 'सा रे गा मा पा धा नी' में रकार ऋषभस्वर, मकार मध्यम स्वर हैं। इसलिये रागके साथ गानेमें मनोहर हैं। भाव-भेदमें मधुर, नादमें मनोहर हैं। पुनः मनोहर अर्थात् सुन्दर हैं। भाव यह कि सन्ध्यक्षर, द्वित्त्वाक्षर, संयोगादि नहीं हैं, इसलिये लिखने, देखने और सुननेमें भी मनोहर हैं।

(७) महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ दोनों अक्षरोंके गुण कहते हैं। अवर्ग और स्पर्शनके पञ्चम यवर्गके अक्षर उच्चारणमें मधुर हैं और वर्गोंके चतुर्थ बहुत गम्भीर हैं, तीसरे आखर भी सुहावने हैं; बाकीके रूखे हैं। इसलिये रकार-मकार मधुर कहे गये और अर्थसे दोनों मनोहर हैं।

(८) जैसे आमका विचार आते ही आमके मीठे स्वाद और रसहीपर ध्यान जाता है और उसके खानेको जी ललचाता है, वैसे ही श्रीरामनामके अक्षरोंका महत्त्व नामके सुमिरते ही जीमें आता है तो वे जिह्वा और मन दोनोंको मीठे वा प्रिय लगने लगते हैं। प्रिय लगनेसे फिर उनको प्रेमसे सुमिरते ही बनता है और सुमिरन करनेसे मनके सब विकार दूर हो जाते हैं। अतः नामका महत्त्व विचारते हुए जप करना चाहिये।

नोट—२ ***'बरन बिलोचन'*** इति। (क) मानसदीपककार लिखते हैं कि 'अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग इत्यादि आठों वर्गोंके वर्ण सरस्वतीके अष्टाङ्ग हैं। चरणोंके क्रमसे 'र', 'म' दोनों नेत्रके स्थानमें पड़े हैं, 'य' नासिकास्थानमें है। इस विचारसे ***'बिलोचन'*** कहा। 'र' दाहिना नेत्र है, 'म' बायाँ। (ख) वर्णमालाके कुल अक्षरोंसे तन्त्रशास्त्रानुसार जब सरस्वतीका चित्र बनाया जाता है तो रकार-मकार नेत्रके स्थानपर स्थापित किये जाते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि यही 'र', 'म' सरस्वतीजीके नेत्र हैं। अर्थात् बिना इन दो अक्षरोंके सरस्वती अन्धी हो जायगी और अन्धी होकर संसारमें बेकाम हो जायगी और संसारका सारा काम गड़बड़ हो जायगा। पद्माकर कविके वंशजोंमें अब भी वर्णोंद्वारा बनाया हुआ यह सरस्वतीतन्त्र है और इसीके पूजनसे उस वंशके लोग कवि होते जाते हैं। (यह बात दीनजीसे संग्रहकर्त्ताको मालूम हुई।)

(ग) *'बरन बिलोचन'*, यथा—'लोचने द्वे श्रुतीनाम्' अर्थात् ये दोनों वर्ण श्रुतियोंके नेत्र हैं। श्रुतियाँ जो यश-गान कर रही हैं, वह इन्हीं दो नेत्रोंसे देखकर। पुनश्च—'उन्मीलत्पुण्यपुञ्जद्रुमललितदले लोचने च श्रुतीनां......' महाशम्भुसंहिता। अर्थात् उदयको प्राप्त होनेवाला जो पुण्यसमूहरूपी वृक्ष है उसके यही दो दल हैं और श्रुतियोंके नेत्र हैं।

नोट—३ *'जन जिय जोऊ'* इति। इसके और अर्थ ये किये जाते हैं—

अर्थ—२ जो जनके हृदयमें रहते हैं।

अर्थ—३ 'जनके जीको देखनेवाले हैं।' अर्थात् उनके हृदयको देखते रहते हैं कि इनके जीमें जो इच्छा हो उसे हम तुरत पूरी करें।

अर्थ—४ 'जो जनके हृदयके भी नेत्र हैं'। भाव यह है कि जिन प्राणियोंके हृदयमें ये दोनों अक्षर नहीं हैं, वे अन्धे ही हैं, श्रीरामरूपादि नहीं देख सकते। यथा—*'काई बिषय मुकुर मन लागी॥......मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'* (१।११५) *'ताही को सूझत सदा दसरथराजकुमार। चश्मा जाके दृगनमें लग्यो रकार मकार॥'* (श्री १०८ युगलानन्यशरणजी)

अर्थ—५ पं० रामकुमारजीका मत है कि 'दोऊ' देहलीदीपक है। अर्थात् दोनों वर्ण जनके हृदयके देखनेवाले दोनों नेत्र हैं। भाव यह कि औरोंके अन्तःकरणके नेत्र ज्ञान और वैराग्य हैं। यथा—*'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।'* (७।१२०) परन्तु भक्तोंके अन्तःकरणके नेत्र 'रा' और 'म' ही हैं। इन्हींसे वे तीनों कालों और तीनों लोकोंकी बातें देखते हैं। यहाँ 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है।

अर्थ—६ जिन हृदयके नेत्रोंसे भक्त भगवान्‌का स्वरूप देखते हैं, वे (नेत्र) मानो ये दोनों अक्षर ही हैं। (पं०)

अर्थ—७ हे प्राणियो! अपने जीवके नेत्रोंसे देखो। (वै०)

अर्थ—८ हे भक्तजनो! (स्वयं अपने) हृदयमें विचार देखो। (दीनजी)

अर्थ—९ ये वर्ण नेत्र हैं, इनसे जीवको (आत्मस्वरूपको) देख लो।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥ २॥

अर्थ—स्मरण करनेमें सबको सुलभ और सुख देनेवाले हैं। लोकमें लाभ, परलोकमें निर्वाह करते हैं॥ २॥

नोट—१ 'स्मरण करते ही सुलभ हैं', ऐसा भी अर्थ किया जाता है। इसका भाव यह है कि सब मनोरथ इनसे सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा—*'कासी बिधि बसि तनु तजै हठि तन तजै प्रयाग। तुलसी जो फल सो सुलभ रामनाम अनुराग॥'* (दो० १४) *'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबो सुमिरत सीताराम॥'* (दो० ५७०) *'तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि'* (बरवै०) *'सेवत सुलभ सुखद हरिहर से॥'* (बा० ३२) पुनः, सुलभता यहाँतक कि *'धोखेहु सुमिरत पातक पुंज सिराने।'* (विनय० २३६)

नोट—२ स्मरण करनेमें 'सुलभ' हैं। इसका भाव यह है कि उच्चारणमें कठिन नहीं, जैसे ट ठ ड ढ ण ञ क्ष छ इत्यादि कठिन हैं। इनके उच्चारणमें व्याकरणकी सहायता नहीं लेनी पड़ती। सहज ही बच्चे-बूढ़े, पढ़े-अनपढ़े—सभी उच्चारण कर लेते हैं। सुलभ=सुगम, सरल, आसान, सहल। पुनः सुलभ हैं अर्थात् सबको इनके स्मरणका अधिकार है।

नोट—३ *'सुलभ सुखद'* कहकर सूचित किया कि और मन्त्र एक तो स्मरणमें कठिन हैं, दूसरे सबको सुखद नहीं, अधिकारीको सुखद हैं, अनधिकारीको विघ्न करते हैं। (पं० रामकुमारजी) पुनः भाव कि स्मरण करनेमें स्थानादिका कोई विचार या नियम नहीं है। (रा० प्र०)

नोट—४ *'सुखद सुलभ सब काहू'* इति। गायत्री आदि बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं कि उनके जपका अधिकार शूद्र और अन्त्यजको और विशेषतः स्त्रियोंको नहीं है, परन्तु 'रामनाम' के स्मरणका अधिकार स्त्री-पुरुष,

नीच-ऊँच, महा अधम पापी कोई भी किसी ही वर्ण या आश्रमका क्यों न हो सभीको है। यथा—**'नीचेहू को, ऊँचहू को रंकहू को, रायहू को, सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।'** (विनय० २५५) जैसे अपने घरमें रोक-टोक नहीं और सब सुख, वैसे ही रामनाममें सबका अधिकार और उससे सबको सुख प्राप्त हो सकता है।

नोट—५ **'लोक लाहु परलोक निबाहू'** इति। भाव यह है कि 'अन्य मन्त्रोंमेंसे कोई लोकमें लाभ देते हैं; परलोक नहीं बना सकते, कोई परलोक बनाते हैं, इस लोकमें लाभ नहीं देते। परन्तु रामनाम लोक और परलोक दोनों बनाते हैं, स्वार्थ-परमार्थ दोनोंके देनेवाले हैं। अर्थात् इस लोकमें रोटी, लूगा, धन, यश सभी सुखके पदार्थोंको देनेवाले हैं और परलोकमें प्रभुका धाम प्राप्त करा देते हैं। यथा— **'स्वारथ साधक परमारथ दायक नामु'** (वि० २५४) **'कामतरु रामनाम जोई जोई माँगि है। तुलसी स्वारथ परमारथ न खाँगि है॥'** (वि० ७०) **'रोटी लूगा नीकें राखै आगेहूके बेद भाषै भलो ह्वैहैं तेरो।'** (वि० ७६) (पं० रामकुमारजी) पुनः भाव कि 'भगवान्‌के दिव्य धाममें दिव्य देहसे सदा भगवत्सेवामें नियुक्त रखते हैं।' (मानसाङ्क) पुनः, भाव कि लोकमें सुख होनेसे अनेक शुभाशुभ कर्म भी अवश्य ही होंगे, जिनसे स्वर्ग-नरक आदि बाधाओंका भय होगा। अतः **'लोक लाहु'** कहकर **'परलोक निबाहू'** कहा। अर्थात् ये दोनों वर्ण उस बाधाको मिटाकर अकंटक शुभगति देते हैं। यथा—'**श्रीराम रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा। तेषां मुक्तिश्च भुक्तिश्च भविष्यति न संशयः॥**' (श्रीरामस्तवराज) यहाँ 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' है। यहाँ 'र, म' का सहज स्वभाव वर्णित है।

कहत सुनत सुमिरत[1] सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥ ३॥

शब्दार्थ—सुठि=अत्यन्त, बहुत ही। यथा—**'दामिनि बरन लखन सुठि नीके।'** (अयो० ११५) **'सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।'** (अयो० १६१) **जौं ए मुनिपट धर जटिल सुन्दर सुठि सुकुमार।'** (अयो० ११९) **'किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर।'** (अयो० १२०) **'सुठि सुंदर संबाद बर।'** (१।३६) **'भूषन बसन बेष सुठि सादे।'** (अयो० २२१)

अर्थ—कहने, सुनने और सुमिरनमें बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदासको तो श्रीराम-लक्ष्मणके समान प्यारे हैं॥ ३॥

प्रश्न—कहने-सुनने-सुमिरनेमें नीके होनेका क्या भाव है?

उत्तर—(१) कहनेमें नीके यह है कि नामके अक्षरोंके शब्दसे यमदूत डरकर भाग जाते हैं। यथा— '**भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्। तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम्॥**' श्रीरामरक्षास्तोत्र।' पुनः, **'जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥'** (बा० ३१५) सुननेमें नीके, यथा—**'जाकर नाम सुनत सुभ होई।'** (बा० १९३) सुननेसे ही कल्याण हो जाता है। स्मरण करनेमें नीके हैं। यथा, **'राम (नाम) सुमिरन सब बिधि ही को राज रे।'** (विनय० ६७) **'सुमिरत सकल सुमंगल मूला।'** (२।२४८)

(२). पुनः कहनेमें जिह्वाको नीके हैं, क्योंकि मधुर हैं। सुननेमें कानको नीके हैं, क्योंकि मनोहर हैं। अर्थात् ऊपर जो बातें दो चौपाइयोंमें कही थीं उनको इस चौपाईमें एकत्र करके कहा है।

टिप्पणी—१(क) **'प्रिय तुलसी के'** कहनेका भाव यह है कि औरोंकी हम नहीं कहते, हमको श्रीराम-लक्ष्मण सम प्रिय हैं। 'रा' राम और 'म' लक्ष्मणके वाचक हैं। इसलिये **'राम लखन सम प्रिय'** कहा। 'हनुमानबाहुक' में भी ऐसा ही कहा है। यथा—**'सुमिरे सहाय रामलखन आखर दोउ जिन्हके समूह साके जागत जहान हैं।'** ☞ ग्रन्थकारकी प्रीति नाम-नामीमें समान है। रकार-मकार श्रीराम-लक्ष्मणसम हैं, इसीसे उनके समान प्रिय कहा। पुनः, (ख) **'रामलखन सम'** प्रिय कहा; क्योंकि ये सबके प्रिय हैं! यथा—

१ समुझत—१७२१, १७६२, छ०, को० रा० सुमिरत—१६६१, १७०४।

'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।' (१। २१६) 'तुलसी' को 'राम-लखन' सम प्रिय हैं, क्योंकि 'तुलसी' इन्हींके उपासक हैं, इसीसे और किसीके समान प्रिय न कहा। (ग) ग्रन्थकार यहाँ और उपासकोंको उपदेश देते हैं कि नाममें श्रीराम-लक्ष्मण-सम प्रीति करो। यथा—*'बंदउँ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही॥'* (विनय० ३६)

पं०—कोई वर्ण, श्लोक आदि कहनेमें सुन्दर होते हैं, पर अर्थ सुन्दर न होनेसे सुननेमें सुन्दर नहीं होते, कोई श्रवण-रोचक होते हैं पर शिष्टसमाजमें कथनयोग्य नहीं होते (जैसे कामवार्ता), कोई (अभिचारादिके) मन्त्र सुमिरनयोग्य होते हैं पर मनको मलिन करते हैं और फल भी उनका नीच होता है; पर श्रीरामनामके वर्णोंका कहना, सुनना, सुमिरना सभी अति सुन्दर हैं।

बैजनाथजी—यहाँ नाम और नामीका ऐक्य दिखाते हैं। भाव यह कि कोई यह न समझे कि रूपसे भिन्न नामका प्रभाव कहते हैं, अतएव कहते हैं कि हमको 'राम-लक्ष्मण' सम प्रिय हैं। श्रीजानकीरूप तो प्रभुके ही रूपमें प्रथम *'गिरा अरथ जलबीचि सम'* में बोध करा आये, इससे दो ही रूपमें तीनों रूप आ गये। 'र' राम हैं, अकार जानकीजी हैं परन्तु दोनों वर्ण एकहीमें हैं। 'म' लक्ष्मणजी हैं। इसीसे मुझे अत्यन्त नीके लगते हैं। *'कहत सुनत……'* से जनाया कि मुखसे कहता हूँ, कानोंसे सुनता हूँ और मनसे स्मरण करता हूँ।

प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि शालग्रामविग्रह रूपान्तरसे श्रीराम ही हैं, वे तुलसीको प्रिय हैं ही। अर्थात् तुलसी और शालग्रामका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार तुलसीके लिये 'र', 'म' हैं। यहाँ 'उपमा अलङ्कार' है।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम[1] सहज सँघाती॥ ४॥

अर्थ—रकार और मकारको (पृथक् -पृथक् वर्ण मानकर) वर्णन करनेमें दोनों वर्णोंकी प्रीतिमें पृथक्ता जान पड़ती है, (पर वास्तवमें ये वर्ण) स्वभावसे ही एक साथ रहते हैं, जैसे ब्रह्म और जीव ॥ ४॥

टिप्पणी—वर्णोंके वर्णन करनेमें प्रीति (मित्रता-मैत्री) बिलगाती है। अर्थात् 'रकार', 'मकार' (र, म) की वर्णमैत्री नहीं मिलती। क्योंकि (क) 'र' अन्तस्थ है, 'म' स्पर्श है। (ख) 'र' यवर्ग है और 'म' पवर्ग। (ग) 'र' मूर्द्धसम्बन्धी है और 'म' ओष्ठसम्बन्धी। पुनः, इनके वर्णनमें न सङ्ग है न प्रीति, पर अर्थमें सङ्ग और प्रीति दोनों हैं, रकार ब्रह्मवाचक है और मकार जीववाचक।

नोट—इस चौपाईके और भी अर्थ और भाव ये कहे जाते हैं।

(१) 'रा', 'म' के स्थान, प्रयत्न, आकार और अर्थ इत्यादि यदि पृथक्-पृथक् वर्णन करें तो इनकी प्रीतिमें अन्तर पड़ जाता है; क्योंकि एकका उच्चारण मूर्धा और दूसरेका ओष्ठ और नासिकासे होता है; एक वैराग्यका हेतु है तो दूसरा भक्तिका, इत्यादि। परन्तु वस्तुतः ये *'ब्रह्म जीव सम'* सहज ही साथी हैं। (२) 'वर्णोंका वर्णन वर्णन करनेवालेकी प्रीतिको अपनेमें विशेष लगा लेती है।' यहाँ बिलगाती=विशेष करके लगाती है। यथा, *'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।'* (बा० १५) में बिभाती=विशेष भाती। (३) मानसपरिचारिका और अन्य दो-एक टीकाकारोंने एक अर्थ, *'बरनत बर न प्रीति बिलगाती'* ऐसा पाठ मानकर, यह किया है कि 'वर्णन करनेमें श्रेष्ठ हैं, इनकी प्रीति विलग नहीं होती।' (४) इन अक्षरोंके वर्णन करनेसे प्रीति बिलग हो जाती (प्रकट हो जाती) है (जैसे दूधमेंसे मक्खन) अर्थात् अक्षरोंके वर्णन करनेसे प्रेम प्रत्यक्ष सबको देख पड़ता है। (श्रीरूपकलाजी) यहाँ बिलगाती=अलग हो जाती। यथा—*'सो बिलगाउ बिहाइ समाजा।'* (बा० २७१) (५) 'यदि इन दोनोंका वर्णन करने लगें कि रामतापिनीमें ऐसा कहा है, सदाशिवसंहिता, ब्रह्मयामल, श्रीरामानुजमन्त्रार्थ, महारामायण इत्यादिमें इनके विषयमें ऐसा कहा है तो इस भाँतिके विवरण सुनकर प्रमोद विलग हो आता है अर्थात् जीवको फड़का देता है, सुना नहीं कि मारे आनन्दके रोमाञ्च हो आया' (मानसतत्त्वविवरण) (६) 'र' और 'म' का अलग-अलग वर्णन करनेमें प्रीति विलगाती है।

१- इव—१७२१, १७६२, छ०। सम—१६६१, १७०४, को० रा०।

अर्थात् बीजमन्त्रकी दृष्टिसे इनके उच्चारण अर्थ और फलमें भिन्नता देख पड़ती है (मानसाङ्क)। (७) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'अब नित्यनैमित्य विभूतिका हेतु कहते हैं कि जिस प्रकार नैमित्यविभूति लीलामात्र श्रीराम, श्रीजानकी और श्रीलक्ष्मण—तीनों रूप भिन्न भी हो जाते हैं, उसी प्रकार रकार और मकारका अन्य वर्णोंके साथ वाणीसे वर्णन करनेमें इन ('रा, म') की प्रीति विलग हो जाती है। 'अर्थात् छन्दादिमें रकार कहो, अकार कहो, मकार कहो सो यह नैमित्य लीलामात्रवत् है और नित्य विभूतिमें तो 'रा', 'म' सहज सँघाती हैं। यथा—श्रीरामानुजमन्त्रमें '**रकारार्थो रामः सगुण परमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवः सकलविधिकैङ्कर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्याहं ब्रूते त्रिनिगमसु सारोऽयमतुलः॥**' अर्थात् 'र' का अर्थ है, दिव्य गुण और परमैश्वर्यसे युक्त श्रीरामजी, 'म' का अर्थ है सब प्रकारके कैङ्कर्यमें निपुण जीव। मध्यके 'आ' का अर्थ है, मैं आपका अनन्य हूँ। यह जीवका श्रीरामजीसे सम्बन्ध बतलानेवाला है। यह तीनों वेदोंका अपूर्व सार है। जबतक जीव अपना स्वरूप भूला है तबतक भटकता है। जब अपना स्वरूप जान लेता है तब भक्तिद्वारा प्रभुके निकट ही है, वैसे ही 'रा', 'म' नित्य साथी हैं।' (८) 'रकारमें स्पर्श थोड़ा और मकारमें बहुत है जिससे एकमें 'इषत्स्पृष्ट प्रयत्न' है और दूसरेमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शका भी है। रकार भीतर मुखके, मकार बाहर मूर्धा ओष्ठस्थानसे। 'रा' नाम शब्दका है और 'म' अर्थज्ञानका। इन दोनोंके गुण कहते ही इनकी परस्परकी प्रीति छूटी-सी दिखाती है।' (रा० प०, रा० प्र०) (९) विलगाती गोरखपुर, बस्ती और बुन्देलखण्डमें देशबोली है। वहाँ 'दिखाती, देख पड़ती' को भी 'बिलगाती' कहते हैं। इस प्रकार यह अर्थ होगा कि वर्णोंके वर्णन (उच्चारण, जप) से ही उनकी प्रीति देख पड़ती है कि वे……। (शेषदत्तजी) (१०) श्रीविन्दुब्रह्मचारीजी—'वर्णन करनेसे वर्णकी प्रीति (मैत्री) विलग अर्थात् अलग होती है। क्योंकि ब्रह्मजीवकी तरह सहज सङ्गी हैं। रामनाममें दो वर्ण रकार और मकार हैं। रकार परमात्मतत्त्वका वाची है और मकार जीवका बोधक है। जीवतत्त्व परमात्मासे इस तरहपर मिला हुआ है और परमात्मा जीवतत्त्वमें इस तरहसे रमण करता है कि उनका सम्बन्ध अथवा लगाव तनिक भी नहीं खण्डित होता। दोनोंका अभिन्न और अङ्ग-अङ्गी-भावसे अन्योन्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार कि कोई उनका खण्ड एवं विच्छेद नहीं कर सकता। वे ऐसे सर्वव्याप्त हैं कि सर्वत्र सम्पूर्ण वही हैं, उनके भेदके लिये कहीं तिलमात्र भी अवकाश ही नहीं है। उनकी अभिन्नता यहाँतक सिद्ध है कि वे दो भिन्न वस्तु ही नहीं, '**जीवो ब्रह्मैव नापरः।**' 'तत्त्वमसि' इसीका प्रतिपादक है। इसी प्रकार जैसे जीव-ब्रह्मकी अभिन्नता सिद्ध है, श्रीरामनामके भी दोनों अक्षर एक हैं, वे परस्पर एक-दूसरेसे अत्यन्त मिले हुए हैं। 'श्रीरामनामकलामणिकोष' में गोस्वामीजी वन्दना करते हुए कहते हैं—'***बंदौं श्री दोऊ बरन तुलसीजीवनमूर। लसे रसे इक एक ते तार तार दोउ पूर॥***' दोनों वर्णोंके अभेदभावकी गोस्वामीजीकी यह उक्ति उनकी उपर्युक्त चौपाईके भावकी पुष्टि करती है। अस्तु, वे दोनों श्रीनामके वर्ण इतने मिले हुए हैं, उनका इतना एकाकार है कि शब्दगत होनेसे, कथनसे उनकी प्रीति अर्थात् मैत्री भङ्ग हो जाती है। इसलिये वस्तुतः उनके संश्लिष्ट एवं संघनिष्ठ तत्त्वका वर्णन नहीं हो सकता, वह सर्वदा अनिर्वचनीय है। जिस तरह अङ्कुरसे उसके विकासस्वरूप दो दल फूटते हैं, इसी प्रकार उस अभिन्न तत्त्वसे उसके संकेतस्वरूप दो वर्ण प्रकट हुए और जैसे अङ्कुरमें उनका एकाकार है वैसे ही अपनी मूल अवस्थामें वे दोनों वर्ण एक (तत्त्व) हैं। वे अक्षर निरक्षर हैं, यह आर्षसिद्धान्त है, '**निवर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्।**' इस रहस्यको यथावत् रामनामके आराधक योगिजन ही जानते हैं। (११) दोनों अक्षरोंका फल भिन्न-भिन्न कहनेसे अपनी प्रीतिमें भेद पड़ेगा, क्योंकि कुछ न्यूनता-अधिकता अवश्य कही जायगी और ये भिन्न-भिन्न होनेवाले नहीं हैं। अतएव इनके फलका भेदकथन ठीक नहीं (पं०)। (१२) वर्णन करनेमें प्रीति विलगाती है कि दो स्वरूप हो गये, नहीं तो वे तो ब्रह्मजीवके समान सहज सँघाती हैं। (शीलावृत्त)

नोट—२ '***ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती***' इति। (१) प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि 'र', 'म' ब्रह्म

और जीवकी तरह सहज सँघाती हैं। अर्थात् जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी है। बिना जीवके ब्रह्मका अस्तित्व नहीं प्रमाणित हो सकता, न बिना ब्रह्मके जीवका अस्तित्व हो सकता है। इसी तरह 'र', 'म' सहज सँघाती हैं। अर्थात् यद्यपि 'मकार' और 'रकारके' बीचमें 'य' अक्षर आ जाता है तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार बीचके नाक होनेपर भी दोनों नेत्र एक ही अवयव माने जाते हैं, जहाँ एक आँख जायगी वहाँ दूसरी अवश्य जायगी और तत्त्व भी 'दोनों' नेत्रोंका एक ही है, जो शक्ति एकमें है वही दूसरेमें भी है, यही उनका 'सहज सँघाती' होना है। 'र' को जब हम बीजरूप 'राँ' से उच्चारण करते हैं तो 'म' स्वयं अनुस्वाररूपसे आ जाता है, यही 'सहज सँघातीपन' है। अर्थात् बिना उसके उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

(२) जैसे ब्रह्म सदा जीवके साथ रहकर उसकी रक्षा किया करते हैं। यथा—***'तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही'*** से ***'तू निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तजेउ नहिं तेरो॥'*** तक (वि० १३६) ***'ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू।'*** (बा० २१६)

(३) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० ११ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है कि उद्धव! अब मैं तुमसे एक ही धर्मीकी बद्ध और मुक्त इन विरुद्ध धर्मोंवाली दोनों स्थितियोंकी विलक्षणताका वर्णन करता हूँ। ये दोनों पक्षी (जीव और ब्रह्म) समान (नित्य, चेतन) सखा हैं और एक ही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छासे (जीव कर्म-फलभोगार्थ और ब्रह्म सर्वव्यापक होनेके कारण) घोसला बनाकर रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) तो उसके फलों (दुःख-सुखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ब्रह्म) निराहार (कर्मफलादिसे असङ्ग साक्षीमात्र) रहकर भी अपने ऐश्वर्यके कारण देदीप्यमान रहता है। यथा—**'अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते। विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥'**(५) **'सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥'**(६) 'यह भाव ***'सहज सँघाती'*** का है। इसी तरह 'रा' 'म' का नित्य साथ है। सेतुबन्धमें जब पत्थर एक साथ जुटे न रहने पाते थे तब एक पत्थरपर 'रा' लिख दिया जाता था, दूसरेपर 'म' और दोनोंको सटा दिया जाता था। बस, फिर तो वे पत्थर अलग न होते थे। (आनन्दरा० सारकाण्ड सर्ग १० में श्रीरामजीने नलसे कहा है।)

(४) भाव कि कोई सङ्ग ऐसा है कि पहले था अब छूट गया जैसे अज्ञान न जाने कबसे था अब छूट गया। इसे 'अनादि सान्त' कहेंगे। कोई सङ्ग पहले न था पीछे हुआ, जैसे ज्ञान पहले न था पीछे हुआ, इसे ***'सादि अनन्त'*** कहेंगे। कोई सङ्ग ऐसा है कि न तो पहले ही था न अन्तमें, किन्तु बीचमें कुछ समयतक रहा। जैसे कि पुत्र-मित्र आदिका सङ्ग। यह 'सादि सान्त' है। परन्तु यह ***'ब्रह्म-जीवका संग'*** तीनोंसे न्यारा है, यह पहले भी था, अब भी है और सदा रहेगा। अतएव ***'सहज सँघाती'*** कहा। अर्थात् इनका सङ्ग ***'अनादि अनन्त'*** है, यह बतानेके लिये ***'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती'*** कहा।

इसपर शङ्का हो सकती है कि 'जब उनका सङ्ग अनादि-अनन्त है तब यह कैसे कहा जाता है कि जीव ईश्वरको प्राप्त हुआ। यथा—**'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** (तै० २। १) (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त होता है), ***'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।'*** (४। १४) इसका समाधान यह है कि परमात्माके व्यापक होनेसे उसके अव्यक्तरूपसे जीव कभी भी अलग नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनोंका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। परन्तु जैसे कोई मनुष्य किसी कार्यवश हाथसे अँगूठी उतार अपने गले या शरीरके किसी अङ्गमें बाँध ले और विस्मरण हो जानेसे फिर उसे सर्वत्र खोजा करे, जब किसीके बतानेसे वह उसे प्राप्त कर लेता है तब वह कहता है कि अँगूठी मिल गयी। इसी तरह जीव सहज सँघाती परमात्माको अनादि अविद्याके कारण भूल गया और परमात्माके हृदयस्थ होते हुए भी वह उसे यत्र-तत्र ढूँढ़ता फिरता है; जब परमात्माकी कृपासे कोई सद्गुरु परमात्माका ज्ञान करा देता है, तब वह समझता है कि मुझको भगवान् प्राप्त हो गये। अर्थात् शास्त्रोंमें जो प्राप्ति कही गयी है वह ज्ञान होनेको ही कही गयी है। यहाँ ***'सहज सँघाती'*** जो कहा गया है वह अव्यक्तरूपको लक्ष्य करके ही कहा गया है।

नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता॥ ५॥

अर्थ—(दोनों वर्ण) नर और नारायणके समान सुन्दर भाई हैं। (यों तो वे) जगत्‌भरके पालनकर्त्ता हैं (पर) अपने जनके विशेष रक्षक हैं॥ ५॥

नोट—१ 'नर-नारायणका भायप कैसा था' यह बात जैमिनीय भारतकी कथासे विदित हो जायगी। जैमिनी भारतमें कहते हैं कि सहस्रकवची दैत्यने तपसे सूर्यभगवान्‌को प्रसन्न करके वर माँग लिया था कि मेरे शरीरमें हजार कवच हों, जब कोई हजार वर्ष युद्ध करे तब कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे। उसके मारनेको नर-नारायणावतार हुआ। एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके मरता तब दूसरा भाई मन्त्रसे उसे जिलाकर और स्वयं हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मरता, तब पहला इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता।''''' इस तरहसे लड़ते-लड़ते जब एक ही कवच रह गया तब दैत्य भागकर सूर्यमें लीन हो गया और तब नर-नारायण बदरीनारायणमें जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ जो गर्भसे ही कवच धारण किये हुए निकला, तब नर-नारायणहीने अर्जुन-श्रीकृष्ण हो उसे मारा (यह कथा सुनी हुई लिखी गयी है)।

नोट—२ '*नर नारायण*' इति। धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे भगवान्‌ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करनेवाला कर्मत्यागरूप कर्मका उपदेश किया। वे बदरिकाश्रममें आज भी विराजमान हैं। विनय० पद ६० में इनकी किञ्चित् कथा भी है और भा० ११।४६।१६ में कुछ कथा है। ये भगवान्‌हीके दो रूप हैं।

टिप्पणी—१ (क) निर्गुणरूपसे जगत्‌का उपकार नहीं होता, जैसा कहा है कि '*ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥' 'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥*' (२३। ६-७) इसीलिये यहाँ सगुणकी उपमा दी। सगुणरूपसे सबका और सब प्रकारसे उपकार होता है, इसलिये रामनामके दोनों वर्णोंका नर-नारायणरूपसे जगत्‌का पालन करना कहा। (ख) भाईपना ऐसा है कि जिह्वासे दोनों प्रकट होते हैं। इसलिये जीभ माता है, 'र', 'म' भाई हैं। यथा—'*जीह जसोमति हरि हलधर से।*' (२०। ८)

टिप्पणी—२ '*बिसेषि जन त्राता*' इति। अर्थात् (क) जैसे नर-नारायणने जगत्‌भरका पालन किया, पर भरतखण्डकी विशेष रक्षा करते हैं; वैसे ही ये दोनों वर्ण जगन्मात्रके रक्षक हैं, पर जापक जनके विशेष रक्षक हैं। जगन्मात्रका पालन इसी लोकमें करते हैं और जापक जनके लोक-परलोक दोनोंकी रक्षा करते हैं। वा, (ख) ईश्वरत्वगुणसे सबका और वात्सल्यसे अपने जनका पालन करते हैं। यथा—'*सब मम प्रिय सब मम उपजाये।*' से '*सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय*' तक। (७। ८६-८७)

नोट—३ पुनः, नर-नारायण भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं और वहाँ नारदजी उनके पुजारी हैं, वैसे ही यहाँ 'रा', 'म' भरतजीकी रीतिवाले भक्तोंरूपी भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं, नामका स्नेह, नारदरूपी पुजारी है। (वै०) पुनः, नर-नारायण सदा एकत्र रहते हैं वैसे ही 'रा', 'म' सदा एकत्र रहते हैं! विशेष पालन अर्थात् मुक्तिसुख देते हैं। (पं०)

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी 'जन' से 'दर्शक' का अर्थ लेते हैं। अर्थात् जो बदरिकाश्रममें जाकर दर्शन करते हैं उनके लोक, परलोकको रक्षा करते हैं। '*जो जाय बदरी, सो फिर न आवै उदरी।*' (मा० मा०)

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥ ६॥

शब्दार्थ—**सुतिय**=सुन्दर अर्थात् सौभाग्यवती स्त्री। **कल**=सुन्दर। **करन (कर्ण)**=कान। **बिभूषण**=विशेष भूषण। **करन बिभूषन**=कर्णफूल। **बिधु**=चन्द्रमा। **पूषन**=सूर्य।=पोषण करनेवाले।

अर्थ—भक्तिरूपिणी सौभाग्यवती सुन्दर स्त्रीके कानोंके भूषण (दो कर्णफूल) हैं। जगत्‌के हितके लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं [अथवा, 'निर्मल चन्द्रमाके समान पोषण करनेवाले हैं।' परन्तु ऊपर दो-दो उपमाएँ देते आते हैं और उपमेय भी 'रा', 'म' दो हैं, अतः यह अर्थ अधिक उत्तम नहीं है।]॥ ६॥

श्रीसुदर्शनसिंहजी—इस चौपाई *'नर नारायन सरिस सुभ्राता।'''''बिधु पूषन॥'* में गोस्वामीजीने उपमाओंका क्रम बदल दिया है। उन्होंने *'नर नारायन'* तथा *'बिधु पूषन'* में पहिले 'म' की और पीछे 'रा' की उपमाएँ दी हैं। इसका कारण है। मन्त्र अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों विधियोंसे जप किया जाता है।* पहिले अनुलोम-विधिसे महत्त्व बतला आये हैं, अब इस चौपाईमें प्रतिलोम-विधिसे महत्त्व दर्शित करते हैं।

यह प्रतिलोम विधि *'सुलभ सुखद सब काहू'* नहीं है। इतना तो स्मरण रखना ही चाहिये। यह तो *'भगति सुतिय कल करन बिभूषन'* है। 'राम' का उलटा होता है 'मरा' और इसी प्रतिलोम मन्त्रका जप करके वाल्मीकि महर्षि हो गये हैं। लेकिन इस प्रतिलोम-क्रमसे जपका वही अधिकारी है, जिसमें भक्ति हो। जिसमें अपार श्रद्धा एवं परिपक्व लगन न हो वह प्रतिलोम-विधिका अधिकारी नहीं। प्रतिलोम-विधि महत्त्वकी दृष्टिसे बता दी है किन्तु भक्तोंके लिये भी अनुलोम-क्रम राम-नाम ही आदरणीय है, यह अगली ही चौपाईमें गोस्वामीजी सूचित करना विस्मृत नहीं हुए हैं—*'जन मन मंजु कंज मधुकर से।'* भक्तोंके हृदयमें भी अनुलोम-क्रमसे ही श्रीराम-नाम विराजते हैं। यहाँ अनुलोम-क्रमका सूचक पद है *'कमठ-सेष'* और *'हरि हलधर'।* लेकिन प्रतिलोम-क्रममें भी वह प्रभावपूर्ण है, अवश्य ही इस क्रममें वे स्वयं घोर तपस्याकी मूर्ति हो जाते हैं और कठोर तपसे ही इस क्रमद्वारा लाभ होता है, यही सूचित करनेके लिये तपोमूर्ति *'नर नारायन'* का स्मरण किया गया।

'म' वाचक है 'नर' का और 'रा' वाचक है 'नारायण' का। दोनों भाई हैं।''''' जगके पालक हैं। संसारके कल्याणके लिये ही नर-नारायण कल्पके प्रारम्भसे तप कर रहे हैं। 'राम' भी प्रतिलोम-क्रममें तपोमय हो जाता है। विश्वके कल्याणके लिये है उसका यह तपोरूप। वह विश्वको क्लेश देनेवाली रावण, हिरण्यकशिपु या भस्मासुरकी राजस-तामस तपस्याका रूप कभी भी धारण नहीं कर सकता।

सामान्य रूपसे तो वह 'जग-पालक' है। सभी जड-चेतनके लिये है उसकी शक्ति; किन्तु जिस प्रकार 'नर-नारायणकी तपस्या विशेषत: साधकोंके परित्राणके लिये है, जिस प्रकार उच्चकोटिके सन्तों एवं तपस्वियोंका वे सदा ध्यान रखते हैं, उनके तपोविघ्नोंको अपने प्रतापसे निवारित करते रहते हैं, समय-समयपर प्रकट होकर उपदेश एवं दर्शनसे मार्ग-प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन देते रहते हैं, उसी प्रकार श्रीरामनामकी प्रतिलोमजा शक्ति भी विशेषत: भक्तोंके परित्राणके लिये है। जपमें जब धुनी चलती है तो स्वत: अनुलोम जपमें भी प्रतिलोमजा शक्ति निहित रहती है और यही शक्ति विकारोंसे जापकका परित्राण करती है।

विकार उठे, कुतर्क तङ्ग करे या श्रद्धाके पैर डगमगायें तो आप नामकी सतत धुन प्रारम्भ कर दें। नामकी शक्ति आपको तुरन्त परित्राण देगी। यह तो प्रत्येक साधकका प्रत्यक्ष अनुभव है। आप चाहें तो करके देख लें।

ये 'म' और 'रा' भक्तिके कर्णाभरण हैं। भक्तिको सुतिय कहा गया है। एक सुतियमें जितने सद्‌गुण सम्भव हैं, वे उसमें हैं और इसी कारण ये विलोमक्रमी रामनामके वर्ण उसको आभूषित करते हैं; क्योंकि ये उग्र तपस्याके प्रतिरूप बिना सद्‌गुणोंसे परिपूर्ण भक्तिके और किसीको विभूषित कर ही नहीं सकते।

सर्वप्रथम गुरुवाक्यमें अचल श्रद्धा, भगवान्‌में अविचल विश्वास तथा अहैतुक प्रेम हो तो विलोम-क्रमसे भी ये युगल वर्ण उस साधकको भूषित ही करते हैं। वह प्रथम कोटिका नैष्ठिक तितिक्षु साधक हो जाता है। क्योंकि इस विपरीत-क्रममें भी ये वर्ण परस्पर नर-नारायणकी भाँति वर्ण मैत्रीयुत ही रहते हैं। जैसे जगत्‌के कल्याणके लिये चन्द्र एवं सूर्य हैं, वैसे ही ये 'म' और 'रा' भी हैं। बीजाक्षर शक्तिसे

---

* मन्त्र अनुलोम एवं प्रतिलोम विधियोंसे जप किये जाते हैं। इसमें श्रीचक्रजीका आशय सम्भवत: भगवन्नाममन्त्रोंसे है, क्योंकि पाणिनीय शिक्षामें कहा है कि स्वर अथवा वर्णसे हीन मन्त्र इष्टदायक न होकर बाधक ही होता है। यथा—'मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्॥'(५२)

दोनों वर्ण दोनोंके स्वरूप हैं। मेरी समझसे नामवन्दनाके प्रसङ्गमें यह चौपाई (*'नर नारायन'* से *'बिधु पूषन'* तक) श्रीरामनामके प्रतिलोम रूप अर्थात् 'म', 'रा' के स्वरूप, तपोमय स्वरूप, प्रभाव, सम्बन्ध, अधिकारी तथा कार्यको बतलानेके लिये आयी है। (मानसमणिसे)

टिप्पणी—१ (क) 'केवल कर्णभूषण ही नहीं हों किन्तु पहिचाननेवाला भी चाहिये। अर्थात् यहाँ यह दिखाया है कि भक्ति करे और रामनाम जपे।' (ख) 'रामनामसे भक्तिकी शोभा है, इसलिये भक्तिको स्त्री कहा। भक्ति (महारानी) से सुन्दर कुछ नहीं; इसीसे तो उसपर भगवान् सानुकूल रहते हैं और वह उनको 'अति प्रिय' है। यथा—*'पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी।'''''भगतिहि सानुकूल रघुराया॥'* (७। ११६) इसलिये 'सुतिय' कहा।' (ग) आप रामनामको सिरका भूषण कहना चाहते थे, परन्तु सिरमें दो भूषण और कोई नहीं हैं और 'र' 'म' को दो-दोकी उपमा देते आये हैं। दूसरे, और बड़े लोगोंने भी इनको कर्णहीके विभूषण लिखे हैं, इसलिये आपने भी यही लिखा, नहीं तो सिरके नीचेका भूषण नामको नहीं कहना चाहते थे। (घ) 'ये वर्ण भक्तिहीके भूषण नहीं हैं' किन्तु बिधुपूषण भी हैं। अर्थात् विश्वमात्रके भूषण हैं। (ङ) *'करन'* सब इन्द्रियोंका भी नाम है। यथा—*'बिषय करन''''''*', *'षमिन्द्रियं हृषीकं च।'*

नोट—१ (क) कर्णफूल कानमें होना सुहागका चिह्न है। कानसे उसका गिरना सुहाग भङ्ग होनेकी सूचना देता है और कानमें उसका न पहनना विधवापन जनाता है। यथा—*'मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ॥' 'सजल नयन कह जुग कर जोरी।'* से *'प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ॥'* तक (लं० १४-१५) इसी प्रकार भक्तिसुतियके लिये 'रा' 'म' ही कर्णफूल हैं। जिस भक्तिमें नामका यजन नहीं, वह भक्ति न तो भूषित ही है और न सौभाग्यवती ही है, किन्तु विधवावत् त्याज्य है। और जैसे विधवासे सन्तान-प्राप्तिकी आशा नहीं, वैसे ही उस भक्तिसे किसी सुफलकी आशा नहीं (प्रोफेसर दीनजी)। (ख) कर्णविभूषणकी उपमा देनेका कारण यह भी हो सकता है कि नाम और कर्णका सम्बन्ध है। नाम जो उच्चारण होता है उसे कान धारण करते हैं; इस सम्बन्धसे यह उदाहरण दिया। नामका सम्बन्ध मुख (जिह्वा) से भी है; परन्तु जिह्वामें कोई प्राकृत भूषण धारण नहीं किया जाता, दूसरे वह संख्यामें एक है और रकार-मकार दो वर्ण हैं और कान भी दो हैं तथा दोनों कानोंमें भूषण पहने जाते हैं।

नोट—२ (क) *'बिमल'* शब्दसे सूचित किया कि 'र' 'म' विकाररहित हैं और सूर्य-चन्द्रमा समल हैं। सूर्य जल बरसाता और सोखता भी है, उसे राहु ग्रसता भी है। पुनः, कमल सूर्यको देखकर खिलता है, सूर्य उसको भी जल न रहनेपर जला डालता है। यथा—*'भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥'* (अ० १७) चन्द्रमा अपनी किरणोंसे जड़ी-बूटी-अन्न आदिको पुष्ट करता है और पालारूपसे उन्हींको जला डालता है, पुनः घटता-बढ़ता है, इत्यादि विकार उसमें हैं। 'र', 'म' विमल गुण उत्पन्न करके उनकी सदा वृद्धि किया करते हैं। इसमें 'अधिक अभेद रूपक' है; क्योंकि 'र', 'म' में विधु और पूषणसे कुछ अधिक गुण हैं। पुनः (ख) सूर्य और चन्द्रमासे जगत्का पालन-पोषण होता है। वे अन्नादिक उपजाते और जीवोंके पोषणयोग्य करते हैं। सूर्य अन्धकारको मिटाता और चन्द्रमा शरदातपको हरता है, वैसे ही 'र', 'म' जनके सुमतिभूमिथलपर विमल गुणोंकी उत्पत्ति करते, अविद्यातम मिटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाते हैं और त्रिपाप हरकर हृदयको शीतल करते हैं। पुनः, (ग) शरद्पूनोंके चन्द्रमामें दो गुण निर्मल प्रकाश और अमृतका स्रवना हैं। प्रकाशसे तपन हरते और अमृतसे अमरत्वगुण देते हैं, वैसे ही 'रा', 'म' शरदातपरूपी जन्म-मरण और तापत्रयको हरते हैं और भक्तिरस द्रवते हैं। पुनः (घ) सूर्य तपकर भूमिको शुद्ध करता, जल सोखकर मेघरूपसे फिर वर्षाद्वारा जीविका प्रदान करता और प्रकाश फैलाता है जिससे सब वस्तुएँ देख पड़ती हैं। वैसे ही रकार (अग्निबीज होनेसे) शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर जीवकी बुद्धिको शुद्ध करके ज्ञान-प्रकाश देकर परमार्थ दिखाता है। कृपा जल है। शान्ति-सन्तोषादि अनेक चैतन्यतारूप जीविका देता है। यह उक्ति हनुमन्नाटककी है। यथा—'मुक्तिस्त्रीकर्णपूरौ मुनिहृदयवयः

पक्षती तीरभूमौ……' (महाशम्भुसंहिता) इसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके कर्णफूल दोनों वर्णोंको कहा है। भाव कि रामनामहीन भक्तिकी शोभा नहीं है। 'जगपालक' से जनाया कि जो संसारमें पड़े हैं वे भी यदि रामनाम लेते हैं तो उनका भी पालन होता है। (वै०)

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥ ७॥

अर्थ—दोनों वर्ण सुगतिरूपी अमृतके स्वाद और सन्तोषके समान हैं, कच्छपभगवान् और शेषजीके समान पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं॥ ७॥

नोट—१ *'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के'* इति। अमृतमें स्वाद और सन्तोष दोनों गुण हैं। पीनेसे मन प्रसन्न होता है और फिर किसी वस्तुके खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती, मृत्युका भय जाता रहता है। इसी तरह 'रा', 'म' उस शुभ गतिको प्राप्त कर देते हैं जिससे मनको आह्लाद और सुख होता है और इनका स्वाद मिलनेपर अन्य साधनोंकी तृष्णा नहीं रह जाती। यथा *'रामनाम मोदक सनेह सुधा पागिहै। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै॥'* (वि० ७०) सुगतिका अनुभव स्वाद है। (रा० प०)

नोट—२ बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंह इस चौपाईका भावार्थ यों लिखते हैं कि 'जैसे अमृतमें यदि कुछ स्वाद न हो और उससे तुष्टता प्राप्त न हो तो वह व्यर्थ है, वैसे ही रामनाम बिना मुक्ति स्वादतोषहीन है।' इसका भाव यह कहा जाता है कि अद्वैतवादियोंकी जो मुक्ति है, जीवका ब्रह्ममें लय होना वह स्वाद-सन्तोषरहित है। मुक्ति होनेपर अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी शिवजी, हनुमान्‌जी, भरतजी, रसिकगण और परधामनिवासी पार्षदसमूह श्रीरामनामको सदैव जपते हैं, यही मुक्ति स्वादसन्तोषयुक्त अमृतके समान है।

नोट—३ श्रीबैजनाथजीका मत है कि 'यहाँ कर्मविपर्यय विशेष्य-विशेषण हैं। स्वाद अमृतसमान है और सन्तोष सुगतिके समान है। सुगतिकी प्राप्तिपर फिर कोई चाह नहीं रह जाती। इसी तरह 'रकार' वैराग्यरूप होनेसे संसारकी आशा छुड़ाकर जीवको शुद्ध कर देता है और 'अकार' ज्ञानरूप प्रकाश करके आत्मस्वरूप दर्शा देता है जिससे सहज ही सन्तोष आ जाता है। पुनः स्वाद तीन प्रकारका होता है, दिव्य (जो सदा बना रहे। जैसे जलमिले दूधमें ओषधि मिलाकर पीनेसे जन्मपर्यन्त पुष्टतारूप स्वाद बना रहता है), सूक्ष्म (जैसे मिश्री मिलाकर दूध पीनेसे एक दिनकी पुष्टता और कुछ जिह्वाका स्वाद है) और स्थूल (जैसे औटे हुए दूधमें चीनी आदि मिलाकर पीनेसे केवल स्वाद मिलता है।) अमृतमें तीनों स्वाद हैं। वैसे ही 'मकार' में अमृतरूपा भक्तिसे भगवल्लीलास्वरूप उत्साह अवलोकनादि स्थूल स्वाद, नाम-स्मरणसे मनमें आनन्द सूक्ष्मस्वाद और भगवत्प्राप्ति दिव्य स्वाद है। यह तो परमार्थवालोंकी बात हुई। और जो स्वार्थमें लगे हैं उनकी चाहरूपी वसुधाको धारण करनेके लिये दोनों वर्ण कमठ और शेष समान हैं, धर्मसहित उनको सुखी रखते हैं।'

नोट—४ *सुगति'* का अर्थ ज्ञान और सदाचार भी कहा जाता है। इस अर्थसे भाव यह होगा कि जैसे अमृतमें स्वाद और सन्तोष न हो तो वह व्यर्थ है, वैसे ही ज्ञानादि होनेपर भी यदि ये दोनों वर्ण (अर्थात् रामनाम-स्मरण) न हो तो वे भी फीके हैं।

'कमठ सेष सम धर बसुधा के' इति

(१) पद्मपुराण उत्तरखण्डमें जहाँ चतुर्व्यूह और विभवोंका वर्णन है, उस प्रसङ्गमें मन्दराचलको धारण करनेके लिये श्रीकच्छप-अवतारका जो वर्णन है उसीमें यह लिखा है कि लक्ष्मीजीकी उत्पत्तिके पश्चात् सब देवता कूर्मभगवान्‌के दर्शनको आये और भक्तिपूर्वक पूजनकर उनकी स्तुति की, तब भगवान्‌ने प्रसन्न होकर वरदान माँगनेको कहा। देवताओंने वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें। 'एवमस्तु' कहकर भगवान्‌ने पृथ्वीको धारण किया। यथा—'**शेषस्य दिग्गजानां च सहायार्थं महाबल। धर्तुमर्हसि देवेश सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ एवमस्त्विति हृष्टात्मा भगवाँल्लोकभावनः। धारयामास धरणीं सप्तद्वीपसमावृताम्॥**' (अ० २३४। १७-१८) सु० र० भा० दशावतार-प्रकरणमें कच्छपभगवान् और शेषजी किस

प्रकार पृथ्वी धारण करते हैं इस सम्बन्धमें यह श्लोक मिलता है। '**यो धत्ते शेषनागं तदनुवसुमतीं स्वर्गपातालयुक्तां युक्तां सर्वैः समुद्रैर्हिमगिरिकनकप्रस्थमुख्यैर्नगेन्द्रैः। एतद् ब्रह्माण्डमस्यामृतघटसदृशं भाति वंशे मुरारेः पायाद्वः कूर्मदेहः प्रकटितमहिमा माधवः कामरूपी॥ २२॥**' अर्थात् जिन कच्छपभगवान्‌की पीठपर यह सारा ब्रह्माण्ड (अर्थात् स्वर्ग, पाताल और हिमाचल तथा सुमेरु आदि पर्वतोंसे युक्त पृथ्वीसहित श्रीशेषनाग) एक अमृतघटके तुल्य सुशोभित हैं, वे अतुल महिमावाले कामरूपी भगवान् हमारी रक्षा करें।

(२) श्रीकच्छपभगवान् और शेषजी पृथ्वीको धारण करते हैं और 'रा', 'म' धर्मरूपी वसुधाको धारण किये हुए हैं। यथा—'*मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥*' (२।३०६) '*जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥*' (दोहावली २९) पुनः *बसु*=धन। *बसुधा*=जो धनको धारण करे। इसी तरह धर्ममें जो अनेक सुख हैं वे ही धन हैं, उनको नाम धारण किये हुए हैं। (पं० रामकुमारजी)

जन मन मंजु[१] कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥ ८॥

अर्थ—(दोनों वर्ण) भक्तके सुन्दर मनरूपी सुन्दर कमल (वा, मनरूपी सुन्दर कमल) के लिये मधुकरके समान हैं, जीभरूपी यशोदाजीको श्रीकृष्ण और बलरामजीके समान हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) नाममें मन और जिह्वा दो इन्द्रियाँ लगती हैं। रकार-मकार जनके मनमें बसते हैं और जीभसे प्रकट होते हैं—यशोदाजीकी तरहसे। पुनः, (ख) यशोदाजी प्रभुका आना नहीं जानतीं, वैसे ही मन और वाणी रामनामके आनेको नहीं जानते। यथा—'*मन समेत जेहि जान न बानी।*' पुनः, (ग) यहाँ मनको कमल और 'रा', 'म' को भ्रमर कहनेका अभिप्राय यह है कि 'कमल भौंरेको नहीं ग्रहण कर सकता। भौंरा अपनी ओरसे आता है। वैसे ही श्रीकृष्णजी और बलदेवजी अपनी ओरसे आये, यशोदाजी नहीं जानतीं। इसी तरह जिह्वामें 'रामनाम' अपनी ओरसे आते हैं, इन्द्रियोंसे अग्राह्य हैं। इसी विचारसे यशोदाका उदाहरण दिया, अन्य माताएँ (गर्भ आदि सम्बन्धसे) जानती हैं, यथा—'**नाम चिन्तामणी रामश्चैतन्यपरविग्रहः। पूर्णशुद्धो नित्यमुक्तो न भिन्नो नामनामिनोः॥ अतः श्रीरामनामेदं न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः। स्फुरति स्वयमेवैतज्जिह्वादौ श्रवणे मुखे॥**' (सी० ना० प्र० प्र०, पद्मपु०) अर्थात् नाम चिन्तामणि शुद्ध और नित्य मुक्त चिद्विग्रह रामस्वरूप हैं क्योंकि नाम-नामीमें भेद नहीं है। अतः यह श्रीरामनाम इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है। (वह परमात्माकी कृपासे ही) स्वयं ही लोगोंके मुखमें, जिह्वा और कानोंमें प्राप्त होता है। श्रुति भी यही कहती है, '**स्वर्भूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।**' 'अर्थात् श्रीरामनाम स्वयं उत्पन्न हैं, ज्योतिः (तेज, प्रकाश) मय हैं, प्रणव आदि अनन्तरूपधारी हैं और भक्तोंके हृदय और जिह्वापर अपनी अनिर्हेतुकीय कृपासे ही भासित होनेवाले हैं (रा० पू० ता० २।१) (घ) 'मंजु' देहली दीपक है, मन और कंज दोनोंके साथ है। मनमें भक्ति होना ही उसकी सुन्दरता है। '*जन मन......*' उपसंहार है और '*जन जिय जोऊ*' उपक्रम है।

नोट—१ बाबा जानकीदासजी आदि दो-एक महात्माओंने 'मधुकर' का अर्थ 'भ्रमर' लेनेमें यह शङ्काएँ की हैं कि—(क) ''रकार, मकार दो वर्ण हैं, मधुकर एक ही है। दोके लिये दो दृष्टान्त होने चाहिये। (ख) 'भ्रमर तो कमलको दुःख ही देता है, उसका रस खींचता, पंखुरियोंको विथुराता है और सदा कमलपर बैठा नहीं रहता। और 'र', 'म' तो जनको सदा आनन्द देते हैं। अतएव भ्रमरकी उपमा ठीक नहीं'। (ग) कमलका स्नेही भ्रमर है, भ्रमरका कमल नहीं?'' और इन्हीं शङ्काओंके कारण उन्होंने 'मधुकर' का अर्थ जल और सूर्यकिरण किया है।

इन शङ्काओंका समाधान एक तो यों ही हो जाता है कि यहाँ उपमाका एक देश वा अङ्ग लिया गया है। गोस्वामीजीने भक्तोंके मनको कमल और श्रीरामचन्द्रजीको भ्रमर अन्य स्थलोंमें भी कहा है। यदि

१ कंज मंजु—१७२१, १७६२, छ०। मंजु कंज—१६६१, १७०४, को० रा०।

ये शङ्काएँ यहाँ हो सकती हैं तो वहाँ भी हो सकती थीं, पर वहाँ इनका गुजर नहीं हुआ। प्रमाण—*'संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरिचंचरीक, निर्ब्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई'* (गीतावली उ० ३) *'निज भक्त हृदय पाथोज भृङ्ग॥'* (वि० ६४), *'हृदय कंज मकरंद मधुप हरि'* (उ० ५१)। यहाँ भ्रमर कहनेका स्पष्ट भाव यह है कि ये दोनों अक्षर भक्तोंके हृदयकमलमें निरन्तर निवास करते हैं—*'अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥'* (वै० सं०) पराग-मकरन्द-सुगन्धयुक्त खिले हुए कमलमें भ्रमर आसक्त रहता है, यहाँतक कि रातमें उसके भीतर बन्द भी हो जाता है वैसे ही जापक-जनके मनसे 'र', 'म' दोनों नहीं हटते—*'जन जिय जोऊ'।* मधुकर भी दो कहे गये हैं। 'से' बहुवचन देकर जनाया कि 'रा', 'म' दो भ्रमर हैं। यहाँ अर्थमें दो भ्रमर समझने चाहिये। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'आज्ञाचक्रमें द्वै दल कमल जहाँ भ्रमर-गुफा सर्वत्र प्रसिद्ध है और हृदयकमलमें वसिष्ठजीने एक भ्रमरका होना स्वर्ण-वर्णका लिखा है।' हृदयके अन्दर एक स्थान है (योगशास्त्रके अनुसार) जिसे भ्रमर गुफा कहते हैं। इस योगसे भ्रमर अर्थ और भी उत्तम और सार्थक प्रतीत होता है।

भ्रमर सदा बैठा नहीं रहता यह ठीक है, पर जबतक फूलमें मकरन्द रहता है तभीतक यह वहाँ रहता है। और 'रा', 'म' जापक-जनके मनमें सदा रहते हैं। यह 'रा', 'म' में विशेषता है।

तीसरी शङ्काका समाधान यों किया जा सकता है कि जब सब आशा-भरोसा छोड़कर जीव प्रभुहीका हो रहता है, तभी 'जन' कहलाता है, तब फिर आश्चर्य ही क्या कि प्रभु अपने नाम-रूपादिको उसके हृदयमें बसा देते हैं। *'मंजु कंज'* कहकर मनकी विशेषता कमलसे सूचित की। कमल भ्रमरका स्नेही न सही, पर जनमन तो 'रा', 'म' का स्नेही है ही। पुनः आगे *'जीह जसोमति'* कहकर जनाया कि जब ये वर्ण जिह्वाको प्रिय होते हैं तभी ये जनके मनमें बसते हैं (नोट ३ भी देखिये)।

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी *'जन मन मंजु.....'* का अन्वय इस प्रकार करते हैं—*'जन मन मधुकर राम नाम मंजु कंज।'* अर्थात् 'रा' 'म' ये दोनों दो कमल हैं, जो जनोंके मन-मधुकरको सुखदाता हैं। दोनोंका ध्यान करके जनमन आनन्दित रहता है।' इस अर्थकी पुष्टिमें आप लिखते हैं कि 'रा', 'म' कमल होंगे तब अपने जनोंके मन-भ्रमरको सुख देनेवाले हुए और जब रामजी भ्रमर होंगे तब सुख भोगनेवाले हुए। कमल और भ्रमरमें यही दो बातें हैं, सुख देना और सुख भोगना। अतः सुख देनेके प्रसङ्गमें 'रा', 'म' को कमल अर्थ करना पड़ेगा और सुख भोगनेके प्रसङ्गमें 'रा', 'म' भ्रमर अर्थ किये जायँगे। नामवन्दनामें नाममहाराजका ऐश्वर्य कहा गया है, नाम-वन्दना सुख देनेका प्रसङ्ग है, अतएव रामनाम कमल ही अर्थ किये जायँगे; वे जन मनभ्रमरको सुखद हैं। पुनः वे लिखते हैं कि 'जल' और 'सूर्य' की समता अयोग्य है क्योंकि (क) जल और सूर्यकिरणसे विरोध है, सूर्य जल शोषण करते हैं और 'रा', 'म' में परस्पर प्रीति है। (ख) सूर्यकी उपमा पूर्व इसी प्रसङ्गमें आ चुकी है। पं० रामकुमारजीने यह नहीं लिखा कि 'नाममें मन और इन्द्रियाँ कैसे लगती हैं। उसको मैं लिखता हूँ कि मन तो 'रा' और 'म' का ध्यान करता है क्योंकि मन-इन्द्रियका काम ही है ध्यान करना और जिह्वाका काम है नाम रटना। इन्हीं दोनों कामोंको नामजापक करते भी हैं और इन्हीं दोके लिये दो उपमाएँ दी भी गयी हैं।''

नोट—३ वै० भू० जी कहते हैं कि कमलकी कर्णिकामें एक चिकना मादक पदार्थ (द्रव्य) उत्पन्न होता है जो भ्रमरके बैठनेमात्रसे नष्ट हो जाता है। यदि भ्रमर न बैठे तो उस मादक द्रव्यके कारण कमलमें कीड़े उत्पन्न होकर कमलको नष्ट कर देते हैं। अतः भ्रमरका आकर बैठना कमलके लिये सुखावह है। वैसे ही 'रा', 'म' रूपी भौंरे जनके मनरूपी कमलपर बैठकर अविद्यारूपी मादक द्रव्यको नष्ट कर देते हैं। नहीं तो अविद्याके रहनेसे मानस रोगादि कीड़े लगकर मनको तामसी बना विनाशके गर्तमें पात कर दें। भ्रमर मकरन्दको पान करता है और रामनाम जनके दिये हुए मानसिक पूजन-ध्यान आदिको पान करता है, यह उपमा है। यथा—*'नील तामरस श्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि॥'* (७।५१)

नोट—४ उपर्युक्त टिप्पणीमें 'मधुकर' को एक शब्द मानकर 'भ्रमर' अर्थ किया गया। दूसरा अर्थ

है 'मधु+कर'-जल और सूर्य वा किरण। यथा—'**मधु दुग्धे जले क्षौद्रे मिष्टे चैव मनोहरे**', '**करः सूर्यः करो हस्तो मागधेयो करः स्मृतः। शुण्डादण्डे च किरणे नक्षत्रे किरणे नरे॥**' (अनेकार्थ-शब्दमाला) इस तरह अर्थ होगा कि 'जनके मनरूपी सुन्दर कमलके लिये जल और सूर्य किरणके समान हैं। भाव यह कि जैसे कमलका पोषण जल और सूर्य दोनोंसे होता है। यदि जल न रहे तो सूर्य उसे जला डालेगा और यदि सूर्य न हुआ तो वह प्रफुल्लित नहीं होगा। रकार अग्निबीज है, अकार भानुबीज है, अतः 'रा' यहाँ रविकिरण हुआ और मकार चन्द्रबीज होनेसे जलरूप है। ये वैराग्य, ज्ञान और भक्ति देकर जनमनको सदा प्रफुल्लित रखते हैं।

नोट—५ बैजनाथजी—'*जन मन मंजु कंज मधुकर से*' यह हृदयमें नाम जपनेवालोंकी बात कहते हैं। नाम-जपके प्रभावसे मन निर्मल हो गया है, इसीसे उनके मनको 'मंजु' कहा। मकार जलरूप सहायक है, मनको आनन्दरूप रस देकर लवलीन रखता है। रकार रविरूप है। अनुभवरूप किरण देकर मनरूपी कंजको प्रफुल्लित रखता है।

नोट—६ '***जीह जसोमति हरि हलधर से***' इति। (१) जैसे घर सब तरहके भोगोंसे परिपूर्ण हो, परन्तु एक लड़का ही न हो तो घरकी शोभा नहीं होती, घर सूना लगता है, वैसे ही मुखरूपी घरमें जिह्वारूपी माताकी गोदमें 'रा', 'म' बालक न हों तो मुखकी शोभा नहीं। पूर्ण रूपक दोहावलीके '***दंपति रस रसना दसन परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु संपति सहज सनेह॥***' (२४) इस दोहेसे स्पष्ट हो जाता है।

(२) यशोदाजीको '***हरि हलधर प्रिय***' वैसे ही भक्तोंकी जिह्वाको 'रा', 'म' प्रिय। यशोदाजी सदा उनके लालन-पालनमें लगी रहतीं, वैसे ही जापक-जन इन वर्णोंका सदा सँभाल रखते हैं। टिप्पणी १ भी देखिये।

(३) जैसे यशोदाजी ब्राह्मणी भी नहीं किन्तु अहीरिन थीं, पर हरि-हलधरसे प्रेम होनेसे वे विरञ्चि आदिसे पूजित हुईं, वैसे ही यह चमड़ेकी जिह्वा अपावन है पर 'रा', 'म' से प्रेम रखनेसे पावन और प्रशंसनीय हो जाती है।

(४) पूरा रूपक यह है—श्रीकृष्णजी देवकीजीके यहाँ प्रकट हुए पर गुप्त ही और यशोदाजीके यहाँ पुत्र प्रसिद्ध कहलाये। इसी तरह बलरामजी रहे तो देवकीजीके गर्भमें, पर योगमायाने खींचकर उन्हें रोहिणीके उदरमें कर दिया, वहींसे प्रकट होकर प्रसिद्ध हुए। नाममात्र वे यशोदाके कहलाये। ग्यारह वर्ष पुत्रका सुख देकर पश्चात् अपने स्थानको चले गये। उसी प्रकार परा वाणीसे नामोच्चारण नाभिस्थानसे प्रकट होता है। यह नाभिस्थान मथुरा है, परा वाणी देवकी हैं, मुख गोकुल है, जिह्वा यशोदा हैं, 'रा' श्रीकृष्ण हैं सो जिह्वाने उच्चारणमात्र पुत्र करके पाया। 'म' बलदेव, ओष्ठस्थान रोहिणीके पुत्र प्रसिद्ध, पर नाममात्र जिह्वारूपी यशोदाके कहलाये। जो जन ग्यारह वर्ष जिह्वासे जपे तो उसके स्वाभाविक ही नाम परा वाणीसे उच्चारण होने लगे (वै०)। बैजनाथजीके भाव लेकर किसीने यह दोहे बना दिये हैं। '***मनहिं स्वच्छ अरु सबल कर है मकार जल प्रेम। रबि अकार प्रफुलित करत रेफ तेज कर क्षेम॥ परावाणि देवकी गगन बन्दीगृह मधु ग्राम। मुख गोकुल यशुमति रसन र० म० हरि बलराम॥***'

टिप्पणी—२ (क) '*नरनारायन सरिस सुभ्राता*', '*राम लखन सम प्रिय*', '*जीह जसोमति हरि हलधर से*' कहकर तीन युगोंमें हितकारी होना सूचित किया। नर-नारायणरूपसे सत्ययुगमें (क्योंकि यह अवतार सत्ययुगमें हुआ), श्रीरामलक्ष्मणरूपसे त्रेतामें, श्रीकृष्णबलदाऊरूपसे द्वापरमें और कलियुगमें तो नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं। यथा—'***कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ।***' या यों कहिये कि 'और सब युगोंमें सब अवतारोंके समान नामको दिखाया, अब कलिमें केवल 'रा', 'म' हैं, कोई अवतार नहीं है। ऐसे कराल कलिकालमें नाम ही कृतार्थ करते हैं। यथा—'***कलि केवल मल मूल मलीना॥*****' (ख) जो ऊपर '***बरनत बरन प्रीति बिलगाती***' में कहा है कि वर्णन करनेहीसे दोनोंकी प्रीति सूझ पड़ती है, अन्यथा नहीं, वही '***ब्रह्म जीव***

सम सहज सँघाती' और उक्त तीनों दृष्टान्त देकर दोनों वर्णोंका वर्णन करके दिखाया है कि इन चारोंके समान सहज प्रीति है। इन तीनों दृष्टान्तोंसे नामके वर्णोंका सौभ्रात्र गुण दिखाया।

नोट—७ *'राम लषन सम', 'ब्रह्म जीव इव', 'नर नारायन सरिस', 'कल करन बिभूषन', 'बिधु पूषन', 'स्वादतोष सम', 'कमल शेष सम', मधुकरसे', 'हरि हलधर से'*, इतने उपमान एक उपमेय 'रकार-मकार'-के लिये इनके पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये चौपाई ३ से लेकर यहाँतक कहे गये। अतएव यहाँ 'भिन्न धर्मोपमालङ्कार' है। इन धर्मोंको इन चौपाइयोंमें लिख चुके हैं।

दो०—एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत[1] दोउ॥ २०॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—देखो, श्रीरघुनाथजीके नामके दोनों वर्णोंमेंसे एक छत्ररूप (ँ) दूसरा मुकुटमणिरूप ( ) से सब अक्षरोंपर विराजते (सुशोभित होते) हैं॥ २०॥

नोट—१ नाम-प्रकरणके पहले दोहेतक अर्थात् पूरे दोहा १९ में शब्दवत् रामनाम लेकर उसके स्वरूप, अङ्ग और फल कहे, फिर बीसवें दोहेमें *'हरि हलधरसे'* तक नामके वर्णोंकी महिमा कही और युगाक्षरोंकी मित्रता दिखायी, अब यहाँ दोनों अक्षरोंको निर्वर्ण लेकर नामका महत्त्व दिखाते हैं।

नोट—२ यह दोहा महारामायणके, **'निर्वर्णरामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां मकारो रेफव्यञ्जनम्॥'** (५२।१०१) इस श्लोकसे मिलता है।

नोट—३ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब पदार्थों और सब मूर्तियोंको देखनेके लिये इस प्रकरणके आदिमें प्रथम नेत्र वर्णन किया—*'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ'*। इस प्रकरणको 'जिह्वा' और 'मन' से उठाकर इन्हींपर समाप्त किया है। *'रामनाम बर बरन जुग……'* उपक्रम है और *'रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ'* उपसंहार है।

नोट—४ *'एकु छत्रु एकु मुकुटमनि'* इति। भाव कि—(क) छत्र और मणिजटित मुकुट जिसके सिरपर होता है वह राजा कहलाता है, वैसे ही जो भक्त इन वर्णोंको धारण करते हैं वे भक्तशिरोमणि कहलाते हैं जैसे प्रह्लादजी, शिवजी, हनुमान्‌जी। (ख) स्वरहीन होनेसे 'र', 'म' सब वर्णोंपर विराजने लगते हैं; वैसे ही जो जन इनका अवलम्ब लेते हैं वे भी स्वरहीन (श्वासरहित, मृत्यु) होनेपर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं। यथा—**'यन्नामसंसर्गवशाद्द्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्नि गतौ स्वराणाम्। तद्रामपादौ हृदि सन्निधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥'**

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥ १॥

अर्थ—नाम और नामी (नामवाला) समझनेमें एक-से हैं। दोनोंमें परस्पर प्रीति है जैसे स्वामी-सेवकमें॥ १॥

नोट—१ 'र', 'म' वर्ण हैं; इसलिये पहले इनको और वर्णोंसे बड़ा कहा था। नामका सम्बन्ध नामीसे है; इसलिये अब नामको नामीसे बड़ा कहते हैं। नामीके दो रूप निर्गुण और सगुण हैं; इसलिये इन दोनोंसे भी नामको बड़ा कहेंगे।

नोट—२ *'सरिस'* कहनेका भाव यह है कि जो गुण वा धर्म नामीमें हैं वे सब नाममें भी हैं। नाम बिना रूपके और रूप बिना नामके नहीं हो सकता देखिये २१ (२)।

नोट—३ *'प्रभु अनुगामी'* की प्रीति कैसी है? यथा—*'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥' 'सेवहिं लषनु सीय रघुबीरहिं।'* (२।१४२)

नोट—४ गोस्वामीजीने 'नाम' को सब प्रकारसे श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि समझनेमें 'नाम' और 'नामी' (दोनों) समान हैं और परस्पर प्रेम भी है अर्थात् 'नामवाला' 'नाम' को चाहता

१ बिराजित—१७२१, १७६२, छ०। बिराजत—१६६१, १७०४।

है, उसकी अपेक्षा करता है और 'नाम' 'नामवाले' की अपेक्षा करता है। दोनों अन्योन्याश्रय-सम्बन्धसे जकड़े हैं, किन्तु फिर भी 'प्रभु' 'नाम' के अनुगामी हैं, पीछे-पीछे चलनेवाले हैं। पीछे-पीछे चलनेवाला इसीलिये कहा है कि 'नाम' लेनेसे नामी (ईश्वर) आता है। इसका अनुभव कोई भी संसारमें कर सकता है। मान लीजिये किसीका 'नाम' 'मोहन' है। अब 'मोहन' संज्ञा और 'मोहन संज्ञावाला व्यक्ति' दोनों एक ही हैं। किन्तु जिस समय 'मोहन-मोहन' पुकारा जायगा, उस समय 'मोहन' नामधारी व्यक्तिको नामका अनुसरण करना ही पड़ेगा; वह पुकारनेवालेके पास अवश्य ही आवेगा। यद्यपि 'मोहन' नामधारीके साथ-साथ 'मोहन' नाम भी रहता है (यही सादृश्य है) पर व्यक्तिके द्वारा 'नाम' इङ्गित नहीं किया जायगा, वरं च 'नाम' के द्वारा वह व्यक्ति ही इङ्गित किया जायगा। यही कारण है कि नामी (व्यक्ति) को नामका अनुगमन करनेको बाध्य होना पड़ता है, 'नाम' को नहीं। यहाँपर विषयको स्पष्ट करनेसे हमारा अभिप्रेत यही है कि आगेका प्रसङ्ग जिसमें सुगमतासे हृदयङ्गम हो सके। इन बातोंका विवेचन *'देखिअहिं नाम रूप आधीना।'* में देख लीजिये। (दोहावली, भूमिका प्रोफे० लाला भगवानदीनजीकृत)

नोट—५ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि 'नाम सेवक है या नामी?' यहाँ यह प्रश्न नहीं उठता। यहाँ दृष्टान्तका एक देश 'स्वामी-सेवक-जैसी परस्पर प्रीति, लिया गया है, यह भाव नहीं है कि एक स्वामी है, दूसरा सेवक। सेवक-स्वामीकी प्रीतिका लक्ष्य; यथा—*'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥'* (२। २४०) यह सेवकका स्वामीपर प्रेम है और वैसे ही *'भरत प्रनाम करत रघुनाथा'।* *'उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥'* यह भरतजीके प्रति स्वामीका प्रेम। दोनोंमें परस्पर प्रेम होता है वैसे ही नाम-नामीमें परस्पर प्रेम है। श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि नामीमें जो धर्म हैं, नाम भी उन्हीं धर्मोंको कहता है, अतः सदृश कहा! प्रभु अनुगामी नाममात्र कहनेमें दो हैं, वस्तुतः दोनों तुल्य हैं। जैसे राजा हुक्म देनेका मालिक है और हुक्म बिना मन्त्रियोंकी सलाहके नहीं बनता। इस तरह दोनोंकी परस्पर प्रीति है। बैजनाथजीका मत है कि नाम सेवक है और नामी स्वामी है। दोनोंकी परस्पर प्रीति यही है कि दोनों कभी भिन्न नहीं होते। सेवक इस तरह जैसे देह-देही, अङ्ग-अङ्गी, शेष-शेषी, प्रकाश-प्रकाशी तथा नाम-नामी। प्रकाश अनुगामी है, प्रकाशी (सूर्य) प्रभु हैं इत्यादि।

नाम रूप दुइ[१] ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥ २॥

अर्थ—नाम और रूप यही दो ईशकी 'उपाधियाँ' हैं। दोनों अकथनीय (अनिर्वचनीय) हैं, अनादि हैं, सुन्दर समझवालोंने इस बातको साधा है॥ २॥

नोट—१ इस चौपाईके और अर्थ भी किये गये हैं।

अर्थ—२ बाबा हरिदासजी यों अर्थ करते हैं कि 'नाम-रूप दोनों समर्थ हैं और दोनों अपने समीप प्राप्त हैं, [अर्थात् हमारे हृदयहीमें दोनों प्राप्त हैं, हम उनको मोहवश नहीं जानते। यथा—*'परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहि, बाहर फिरत बिकल भयउ धायो।'''' अपनेहि धाम नाम-सुरतरु तजि बिषय-बबूर-बाग मन लायो॥'* (वि० २४४)] पर सुन्दर समझहीसे सधते हैं।

अर्थ—३ अकथ अनादि ईशने उपाधि (धर्म-चिन्ता, कर्तव्यका विचार) विचारकर नाम और रूप दोनोंको धारण किया है। अर्थात् *'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥'* जो ईश है उसने नाम-रूप दोनों धारण किये हैं जिससे उनका प्रतिपालन हो।

अर्थ—४, ५ मानसमयङ्ककार *'ईश उपाधि'* का भाव यह लिखते हैं कि 'अगुण और सगुण दोनों ईशोंकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं।' और अभिप्राय, दीपकमें इसके भावपर यह दोहा है। *'लखब सच्चिदानन्द दोउ, रूप उपाधी नाम। वा उपाधि पोषण भरन, प्रगट करत सुखधाम॥'* (३५) इसके अनुसार अन्वय यह है, 'नाम ईश (के) दुइ रूप (अगुण, सगुण) उपाधी अर्थात् नाम ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दोनों

१ किसी-किसी छपी पुस्तकमें 'दोउ' पाठ है।

रूपोंकी प्राप्ति करा देनेवाला है। उत्तरार्द्धमें दूसरा अर्थ है। उपाधि=भरण-पोषण। इसके अनुसार अर्थ है कि नामके दो रूप 'रा', 'म' हैं। ये दोनों जीवका ईश्वरके समान भरण-पोषण करते हैं।' (दीपकचक्षु)

अर्थ—६ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि 'उप=समीप। आधीन=स्थापन; जो अपनेमें माना जाय उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे फूलोंकी छाया पड़नेसे दर्पणमें वे सब रङ्ग माने जाते हैं, वैसे ही कर्मोंकी छाया पड़नेसे जीवोंमें रूप माने गये हैं। ईश्वरमें कर्मका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये उसमें जीवके समान नाम-रूप नहीं हैं। उसमें केवल भक्तोंके भावकी छाया पड़ी है और भाव सत्तारूप अविनाशी है; इससे ईश्वरके नामरूपादि नित्य हैं ऐसी समझ आवे तब ईश्वरके नाम-रूपमें ईश्वरहीका भाव सधे।

अर्थ—७ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि ***'समुझत सरिस नाम अरु नामी'*** जो कह आये उसीका यहाँ हेतु कहते हैं। एक भाव इस चौपाईका यह भी हो सकता है कि 'अकथ अनादि उपाधि ईश्वरके नाम वा रूप ये दो ही हैं, लीला और धाम नहीं हैं। ये नाम-रूपहीके अभ्यन्तर हैं जैसा गर्गसंहितामें गोलोककी उत्पत्ति श्रीकृष्णजीके शरीरसे होना कहा है और लीला योगमायाद्वारा। एवं **'विष्णोर्पाद-अवन्तिका'** इत्यादि। क्योंकि यह जो कहा है कि **'कार्योपाधिरयं जीवो कारणोपाधिरीश्वरः'** तहाँ कारणरूप उपाधि यही दो हैं।' (मा० त० वि०)

अर्थ—८ ईश्वरके नामरूप दोनोंका 'झगड़ा' (कि इनमेंसे कौन बड़ा है, कौन छोटा, कौन पहले हुआ, कौन पीछे इत्यादि) अनादिसे है और अकथनीय है।

अर्थ—९ शब्दसागरमें 'पाधि' के अर्थ ये भी लिखे हैं कि 'जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेष रूपमें दिखायी दे'। 'वेदान्तमें मायाके सम्बन्ध और असम्बन्धसे ब्रह्मके दो भेद माने गये हैं, सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म।

अर्थ—१० प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'उपाधि' का अर्थ है 'विकृत रूप वा दूसरा रूप'। अतः इस अर्द्धालीका अर्थ यह हुआ कि 'नाम और रूप ईशहीके दूसरे रूप हैं।' अर्थात् यदि हम नामको पकड़ लें तो हमने ईशको पा लिया और रूपको पकड़ लें तो भी वही बात हो चुकी। यह बात साधन करके भलीभाँति समझो।' वे ***'दुइ'*** की ठौर ***'दोउ'*** पाठ शुद्ध मानते हैं। यह 'उपाधि' का अर्थ वेदान्त-शास्त्रके अनुकूल बताते हैं।

नोट—२ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि ***'अकथ, अनादि, सुसामुझि साधी'*** ये सब ***'ईश'*** के विशेषण हैं। जैसे—***अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥'*** और ***'ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥'*** में अकथ आदि ***'ब्रह्म सरूप'*** और ***'ब्रह्मसुख'*** के विशेषण हैं।

नोट—३ ***'नाम रूप दुइ ईस उपाधी'*** इति। उपाधिके कई अर्थ हैं। (क) धर्मचिन्ता, कर्तव्यका विचार। (ख) उपद्रव, उत्पात। (ग) पदवी, प्रतिष्ठासूचक पद। (घ) समीप-प्राप्त।

इन अर्थोंको एक-एक करके लेनेसे ***'दुइ ईस उपाधी'*** के ये भाव निकलते हैं—(क) नामको सुमिरें या रूपका ध्यान करें, दोनोंहीसे प्रभुके चित्तमें भक्तका मनोरथ पूरा करने, दुःख हरने इत्यादिकी चिन्ता हो जाती है, क्योंकि उनको अपने 'बान' की लाज है। यथा—***'जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भार सदा अपने पनको।'*** (क० उ० ९) ***'मम पन सरनागत भयहारी'*** (सुं० ४३) ***'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥'*** (सुं०४४) ***'सो धौं को जो नाम लाज ते नहिं राख्यो रघुबीर'*** (वि० १४४) मानसतत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि यहाँ 'पूर्व चौपाईका हेतु कहते हैं। 'ईश' अर्थात् ईश्वर जो सृष्टिका निमित्त कारण है, कार्यको उत्पन्न करके भिन्न रहता है। ऐसे भिन्न पुरुषकी प्रीतिकी कोई उपाधि खोजना अवश्य हुआ। अस्तु, महानुभावोंने केवल नाम और रूप यही दो पाया! दोनों सम इस कारणसे हैं कि ईशकी उपाधि अर्थात् 'धर्मचिन्ता' वा ***'निज परिवार'*** ('उपाधिर्धर्मचिन्तायां कुटुम्बव्यापृते छले' इति मेदिनी-कोश) नाममात्र है किंवा रूपमात्र'। (ख) ***'उपाधि'*** उपद्रवको भी कहते हैं। भाव यह कि नाम-रूपसे ईश पकड़े जाते हैं। इस प्रकार भी दोनों बराबर हैं (पं० रामकुमारजी)। (ग) जैसे पदवी पानेसे मनुष्य

प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके गुण, अधिकार इत्यादि सभी जान जाते हैं। वैसे ही ईश्वरके नाम-रूपहीसे उसका यथार्थ बोध होता है। बिना नामरूपके उसका ध्यान, ज्ञान, समझना, उनमें और उनके गुणोंमें विश्वास होना इत्यादि असम्भव हैं। नाम और रूपहीसे परमेश्वर जगत्में सुशोभित होते हैं; उनकी चर्चा घर-घर होती है; अतएव नाम और रूप मानो पदवी हैं जिससे प्राणियोंकी दृष्टिमें परमेश्वरकी प्रतिष्ठा है (श्रीसीतारामप्रपन्न गयादत्त चौबे, जिला बलिया)। (घ) ईशके समीप (जापक-जनको) प्राप्त कर देनेवाले हैं। अर्थात् प्रभुकी प्राप्तिके दोनों ही मुख्य साधन हैं। प्रमाण यथा—'**रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वे मोक्षरूपिणः॥**', '**पूर्णं नाम मुदादासा ध्यायन्त्यचलमानसाः। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपताम्॥**' (महारामायण मा० त० ५२, ६९, ७०)

नोट—४ पं० रामकुमारजी इस चरणपर यह श्लोक देते हैं, '**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥**' (उपनिषद्) अर्थात् जगत्का जो भान होता है उसमें अस्ति (है), भाति (भासता है), प्रिय, रूप और नाम इन पाँचोंका अनुभव होता है। इसमेंसे प्रथम जो तीन हैं वे ब्रह्मका रूप हैं जिसे सच्चिदानन्द कहा गया है और नाम तथा रूप ये मायाके हैं। (यह अद्वैत सिद्धान्तानुसार प्रतिपादन है।)

नोट—५ इन अर्थोंमें कोई-कोई शङ्का करते हैं कि 'ईशकी उपाधि' कहनेसे 'ईश' तीसरा पदार्थ ज्ञात होता है। यद्यपि यह शङ्का केवल शब्द कहनेमात्रका है तथापि 'ईश' और 'उपाधी' को पृथक् करके 'ईश' का अर्थ 'समर्थ' कर लेनेसे शङ्का निवृत्त हो जाती है।

नोट—६ '***अकथ अनादि सुसामुझि साधी***' इति (क) अकथनीय और अनादि यथा—'***नाम जपत शंकर थके शेष न पायो पार। सब प्रकार सो अकथ है महिमा अगम अपार॥***' (विजयदोहावली), '***महिमा नाम रूप गुन गाथा।''''निगम सेष सिव पार न पावहिं॥***' (उ० ९१) (ख) ***सुसामुझि***=अच्छी बुद्धिवालोंने। सुन्दर बुद्धिसे। भाव यह है कि उनमें भेद न मानकर इस उपदेशपर चले कि '***रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहरहु जौं चाहसि उजियार॥***' पुनः '***जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ***' ऐसा समझकर प्रेमसे रामनाम जपें तो दोनोंका बोध आप ही हो जावेगा।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥३॥

अर्थ—कौन बड़ा है, कौन छोटा, (यह) कहनेमें अपराध होता है। गुणको सुनकर साधु भेद (वा, गुणोंका भेद सुनकर) समझ लेंगे॥३॥

टिप्पणी—१ समझनेमें सुखद हैं। यथा—'***समुझत सुखद न परत बखानी।***' इसीलिये '***सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू***' कहा। यहाँ कहते हैं कि बड़ा-छोटा कहनेमें अपराध होगा, इसीसे आगे कहेंगे कि '***न परत बखानी***'।

नोट—इस दोहेका सम्पूर्ण विषय कठिन है। इसी कारण विषयके साथ '***समुझत***' या समझसे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द प्रसङ्गभरमें दिये हैं। यथा—'***समुझत सरिस नाम अरु नामी***', '***सुसामुझि साधी***', '***समुझिहहिं साधू***', '***समुझत सुखद।***' देखिये, कहते हैं कि '***को बड़ छोट कहत अपराधू***' और आगे चलकर बड़ा कह भी दिया है, '***कहहुँ नाम बड़ राम तें।***' यह क्यों? उत्तर—(१) पण्डित रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यदि एकके गुण और दूसरेके दोष कहकर एकको बड़ा और दूसरेको छोटा कहें तो दोष है; इसीसे हम गुण-दोष न कहकर दोनोंके गुण ही कहकर बड़ा-छोटा कहते हैं, दोनोंके गुण सुनकर साधु समझ लेंगे; इसमें दोष नहीं। बड़ा-छोटा कहनेकी प्रायः यह रीति है कि एकके गुण कहे और दूसरेके अवगुण, जैसा ग्रन्थकारने श्रीसीताजीके प्रसङ्गमें (२३७, २३८ दोहेमें) श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे कहलाया है। यथा—'***सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥***', '***जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक। सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक॥***' (२३७) '***घटइ बढ़इ***' इत्यादि। गोस्वामीजी कहते हैं कि हम इस रीतिसे बड़ाई-छुटाई नहीं कहते।' (२) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ बड़ा-छोटा कहनेमें अपराध मानते हुए

भी आगे बड़ा-छोटा कह ही डाला। इसका कारण यह है कि रामनामपर उनका इतना विश्वास है कि उनसे रहा न गया और अपने इष्ट (रामनाम) की बड़ाई कर ही डाली और अपना विश्वास प्रकट कर दिया कि इतना बड़ा अपराध करनेपर भी रामनाममें वह शक्ति है कि अपराध क्षमा हो ही जायगा। (३) मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'इस रीतिसे वास्तविक सिद्धान्त न कहकर अब, केवल भक्तोंके उपासनानुसार और कलियुगमें नामीसे नामका प्रभाव अधिक समझकर निज भावके अनुकूल सिद्धान्त कहते हैं। (४) सू० प्र० मिश्र—*'को बड़ छोट कहत अपराधू'* इस आधी चौपाईतक ग्रन्थकारने शास्त्रसिद्धान्तकी बातें कहीं, आगे केवल भक्तोंके उपासनानुसार कहते हैं। *'सुनि गुन भेद'* अर्थात् नामीसे नामके अधिक गुण सुनकर। (५) सु० द्विवेदीजी—'दोनोंमें समान गुण होनेसे एकको बड़ा, दूसरेको छोटा कहना अपराध है। साधु लोग अपनी-अपनी रुचिसे इन दोनोंके गुणोंको सुनकर तथा विचारकर आप इन दोनोंके भेदको समझेंगे। यह कहकर ग्रन्थकारने अपनी रुचिसे नामके बड़ा होनेमें हेतु दिखलाया।'

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना॥ ४॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें॥ ५॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें॥ ६॥

अर्थ—रूप नामके अधीन (आश्रित, वश) देखा जाता है। बिना नामके रूपका ज्ञान नहीं हो सकता॥ ४॥ विशेष रूपका पदार्थ भी हथेलीपर प्राप्त होनेपर भी बिना नामके नहीं पहचाना जा सकता॥ ५॥ और बिना रूपके देखे नामको 'सुमिरिये' तो वह रूप हृदयमें बड़े स्नेहसमेत आ जाता है॥ ६॥

नोट—१ देखिअहि—श्रीरूपकलाजी कहते हैं कि इस शब्दसे भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल-का बोध होता है, जैसे फारसीमें मुजारैसीगासे। भाव यह कि सदैव देखते आये, देखते हैं और अब भी देखेंगे। अथवा, ऊपर कहा है कि साधु समझ लेंगे और अब कहते हैं कि वे स्वयं देख लेंगे कि रूप नामके अधीन है। *देखिअहि*=देखिये, देखते हैं, देखा जाता है। यथा—*'नाथ देखिअहि बिटप बिसाला'* (अयो० २३७) *'बायस पलिअहिं अति अनुरागा'* (बा० ५); *'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं'* (अयो० १२१) में *रखिअहिं*=रखिये, रख लें, रख लिया जाय। *'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥'* में *पाइअहि*=पाते हैं।

नोट २—*'रूप नाम आधीना'* इति। रूप नामके अधीन है, इसका प्रमाण इसी ग्रन्थमें देख लीजिये। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीको न पहचान सके, जबतक उन्होंने अपना नाम न बताया। यदि वे रूप देखकर पहचान गये होते तो यह प्रश्न न करते कि *'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥'''''* जब श्रीरामचन्द्रजीने नाम बताया तभी पहचाना। यथा—*'कौसलेस दसरथ के जाये। नाम राम लछिमन दोउ भाई।''''' प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना'* (कि० २)। 'देखिये दस-पाँच मनुष्य एक ही स्थानपर सोये हों तो जिसका नाम लेकर पुकारोगे वही बोल उठेगा। नामहीके बेधनेसे नामीकी मृत्यु हो जाती है' (बैजनाथजी)। कोई मनुष्य किसी जाने हुए ग्राम वा नगर इत्यादिको जा रहा हो, रास्ता भूल जाय तो उस ग्रामका नाम न जाननेसे उसको उसका पता लगाना असम्भव हो जाता है। बिना नाम कहे कोई किसीको कोई वस्तु समझाना चाहे तो नहीं समझा सकता। इससे निश्चय है कि समग्र गुणोंसहित रूप सूक्ष्मरूपसे नाममें बसा है, नामकी प्रशंसासे रूप प्रसन्न होता है, अतः अधीन कहा (वै०)। श्रीलाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि *'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।''''' आवत हृदय सनेह बिसेषें।'* में गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी दार्शनिक प्रवीणता भलीभाँति दिखला दी है। इसमें एक चौपाईपर मनन करनेकी आवश्यकता है। वह चौपाई यह है—*'देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना॥' 'रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें॥'* बिना नामके किसी भी रूपका (वस्तुका) ज्ञान ही असम्भव है। सबसे भारी असमंजस यह है कि नामके बिना रूपकी विशेषता ही नहीं जानी जा

सकती; चाहे वे कितने ही समीप क्यों न हों। यह बात इस प्रकार स्पष्ट हो सकती है कि मान लीजिये आपके सामने दो भिन्न वस्तुएँ रखी हैं। अब जबतक उनका नामकरण नहीं होता, तबतक उन्हें दूसरेको समझाना तो दूर रहा, आप स्वयं भी समझ नहीं सकते। एक स्थानपर आम और आँवला रखे हों और उनके नाम यदि आप नहीं जानते, केवल रूपके जानकार हैं तो 'आँवला' कहनेपर 'आम' तथा 'आम' कहनेपर आँवलाका ग्रहण आपके लिये कोई असम्भव बात नहीं। केवल दो वस्तुओंमें जब 'अनामता' से भ्रम हो जाना सम्भव है तो असंख्य वस्तुओंमें 'अनामता' से गलती होना ही सर्वथा सम्भव है। यही 'नाम' और 'रूप' का अन्तर है। बिना दोनोंके सफल होना कठिन है। किन्तु 'नाम' में अधिक बल है, क्योंकि रूप नामका अनुगामी है। यथा किसी समाजमें बहुत-से व्यक्ति बैठे हैं और एकका नाम बताकर बुला लानेको कहा जाय तो वह शीघ्र आ जायगा। उसी प्रकार 'नाम' द्वारा 'रूप' का ग्रहण होता है। नाम लेकर पुकारनेपर जो व्यक्ति उठेगा उसके 'रूप' को भी बुलानेवाला हृदयङ्गम कर लेगा। किन्तु केवल 'रूप' जाननेसे इतना काम नहीं बन सकता। इस बातका प्रमाण मन्त्रशास्त्रसे प्रत्यक्ष मिलता है। इस शास्त्रके अनुसार मारण, मोहन इत्यादि प्रयोग केवल नामहीके द्वारा सिद्ध होते हैं और प्रभाव नामीपर पड़ता है। इसी बातको तुलसीदासजीने स्पष्ट किया है। *'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निरगुन मन तें दूर। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूर॥'* (दोहावली ८) *'ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बरदानि। रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥'* इससे भी अधिक स्पष्ट रामचरितमानसमें कहा है। यथा—*'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'* इत्यादि।

नोट—३ *'रूप बिसेष'* इति। शब्दसागरमें 'विशेष' के अर्थ ये हैं—भेद, विचित्रता, तारतम्य, अधिकता और वैशेषिक दर्शनके अनुसार 'वे गुण जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है'। टीकाओंमें इसके अर्थ ये किये गये हैं—(क) विशेष रूपका पदार्थ जैसे कोई रत्न, हीरा, पन्ना आदि। इसके रूप-रङ्गको सुना है। वह मिला भी तो बिना उसका नाम जाने कितनोंहीने उसको साधारण पत्थर जानकर सेरभर सागके बदलेमें दे दिया है। जब उसका नाम जाना तब पछताये। विदेहजीने श्रीराम-लक्ष्मणको देखा, पर जबतक विश्वामित्रजीने नाम न बताया उनको न पहिचाना (पंजाबीजी)। (ख) 'रूपका विशेष ज्ञान होनेपर भी नाम जाने बिना' (करुणासिन्धुजी, रा० प्र०)। (ग) 'रूपकी विशेषता' कि यह ऐसे गुणवाला है, इत्यादि। (घ) 'यद्यपि रूप विशेष है। अर्थात् जो गुण रूपमें हैं सो नाममें नहीं हैं। यथा वज्रोपल नाममें पत्थरका कठोरता गुण है और उसके रूपमें इतने गुण हैं कि वह अमूल्य है, पुत्रदायक है, सुखदायक है, विष और वज्रकी बाधाको हरता है, इत्यादि। इस प्रकार रूप गुणोंमें विशेष है तो भी *'करतल गत'''''* अर्थात् रूपके गुण नामहीसे प्रकट होते हैं, अन्यथा नहीं (वै०)। (ङ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि यहाँ *'देखिअहि'''''* से लेकर चार चरणोंमें एक ही बात कही है, इससे पुनरुक्तिदोष होता है। *'देखिअहि''''' आधीना'* से जनाया कि नामके अधीन होनेसे रूपका दर्शनमात्र होता है। *'रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना'* से जनाया कि नामकी विमुखतासे रूप किञ्चिन्मात्र भी पहचाना नहीं जाता। और *'रूप बिसेष'''''* से जनाया कि नामका उपकार, सबलता, माहात्म्य वा प्रभाव बिना जाने जो रूप करतलगत है उसका वह दिव्य रहस्य जाना नहीं जाता। (च) 'रूप विशेष करतलगत है पर नाम बिना'''''। (नं० प०)

नोट—४ *'आवत हृदय सनेह बिसेषें'* इति। इसके भी दो-तीन तरहसे अर्थ किये जाते हैं—(क) एक ऊपर लिखा गया कि 'रूप हृदयमें बड़े स्नेहसे आ जाता है।' प्रमाण यथा—**'रूपं श्रीरामचन्द्रस्य सुलभं भवति ध्रुवम्'** (मार्कण्डेयपुराण)। (ख) नाम जपनेसे हृदयमें नामीमें विशेष स्नेह आ जाता है; जिसका फल रूपदर्शन है (श्रीरूपकलाजी)। यथा—*'मन बच करम नामको नेमा। तब उपजै नामी पद प्रेमा।'* (महात्मा श्री १०८ युगलानन्यशरणजी, लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजी) पुनः, यथा—*'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥'* (बा० १८५) *'अतिशय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥'* (अ० १०) (ग) 'विशेष स्नेहसे नामका स्मरण करनेसे बिना देखे रूप हृदयमें आ जाता है।' क्योंकि

देवता मन्त्रके अधीन हैं, यह श्रीजैमिनीय मीमांसा, तापिनी आदिसे प्रसिद्ध है। यथा—'**यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत्। तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखी भवेत्॥**' (रा० पू० ता० उ० ४। ३) अर्थात् जैसे वाचक नामके द्वारा नामी सम्मुख हो जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मन्त्र श्रीरामजीको जापकके सम्मुख कर देता है। पुनः यथा—'*मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब॥*' (बा० २५६) 'श्रीरामनाम' महामन्त्र है। यथा—'*महामंत्र जोइ जपत महेसू*' इसके अधीन देवताओंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी हैं।

नोट—५ विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'नाम लेनेसे वस्तुका अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है तभी तो व्याकरणमें नामको संज्ञा कहते हैं और संज्ञा शब्दका अर्थ अच्छी तरहसे ज्ञान करानेवाला ऐसा होता है। संज्ञाको मराठी व्याकरणमें नाम कहते हैं।'

नाम रूप गति[१] अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी॥ ७॥

अर्थ—नाम और रूप दोनोंकी गतिकी कहानी अकथनीय है; समझनेमें सुखद है, वर्णन नहीं करते बनता॥ ७॥

नोट—१ '*अकथ*' का भाव यह है कि ये दोनों एक-दूसरेमें ऐसे गुँथे हैं कि एककी बड़ाईके साथ दूसरेकी बड़ाई झलक ही पड़ती है अर्थात् नामस्मरणसे रूप स्नेहसहित न आवे तो सेवककी स्वामीपर प्रीति ही कैसी? दूसरी ओर दृष्टि डालिये तो यह विचार होता है कि बड़ेका स्नेह छोटेपर होता है। यथा—'*बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं॥*' (बा० १६७) इससे नामीका भी बड़प्पन झलक उठता है। अतएव '*अकथ*' कहा। विशेष २१ (३) में टिप्पणी पं० रामकुमारजीकी देखिये। (मानसपरिचारिका)

नोट—२ श्रीसुदर्शनसिंहजी—नामकी गति अवर्णनीय है। नामसे नामीका अभेद और नामके स्मरणसे हृदयमें नामीका प्रादुर्भाव, यह साधनकी वस्तु है……। किस प्रकार नामका नामीसे अभेद है और किस प्रकार नामसे नामी आकर्षित होता है, यह नामका आश्रय लेनेसे समझमें आ जायगा और समझमें आनेसे उससे आनन्द प्राप्त होगा। यह सुखद है, परन्तु यह बात वर्णन नहीं की जा सकती। नामकी कहानी भी अकथ है। उसके द्वारा अनन्त जीवोंका उद्धार हुआ है, यह समझनेपर हृदय श्रद्धासे पूर्ण हो जायगा और श्रद्धाजन्य आनन्द उपलब्ध होगा पर नामके चरितका वह महत्त्व तो शेष भी नहीं कह सकते। रूपकी गति एवं कथा भी अकथ है।…… भगवान्‌का दिव्य रूप कैसा है? कैसे हृदयमें आता है? कैसे क्षणभरमें हृदय कुछ-से-कुछ हो जाता है? यह कौन बता सकेगा? यह तो अनुभव कीजिये! समझिये। राम अनन्त हैं, इसलिये रूपके चरित भी वर्णन नहीं किये जा सकते।…… इस प्रकार नाम एवं रूपमें दोनोंकी गति (कार्यशैली) तथा कहानी (चरित) अवर्णनीय है। वे अनुभवकी वस्तु हैं और अनुभव करनेपर उनसे आनन्द प्राप्त होता है। (मानसमणि)

नोट—३ पं० सूर्यप्रसाद मिश्र—यहाँ '*गति*' के तीन अर्थ हैं। राह, हालत और ज्ञान। नामरूपकी राह या उनकी हालत या उनका ज्ञान ये बातें कहाँसे कही जा सकती हैं? समझनेमें तो सुख देनेवाली हैं पर कही नहीं जा सकतीं। इसका कारण यह है कि प्रिय वस्तुका कहना नहीं हो सकता। क्योंकि उस वस्तुके साक्षात्कार होनेसे मन उसीके आनन्दमें डूब जाता है फिर कहनेवाला कौन दूसरा बैठा है? यही बात श्रुतिमें लिखी है। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**'(तै० ३। २। ४)

नोट—४ श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'नाम और रूपकी गति उनके माहात्म्य कहने और समझनेसे सुख देनेवाली है। अर्थात् और देव अनेक पूजादिसे प्रसन्न होकर तब सुखद होते हैं, परन्तु नामके स्मरण और

१ गुन—(पं० रामकुमारजी, व्यासजी, रामायणीजी)। गति कहत कहानी—(मानस-पत्रिका), अर्थात् 'इनकी गति, कथा कहते और समझते सुख देनेवाली है' (मा० प०)। नंगे परमहंसजी नाम-रूपकी कहानीकी गति' यह अर्थ करते हैं।

उस नामके साथ-साथ उस नामीकी स्तुति करते ही वह नामीकी गति सुखद हो जाती है, इसलिये वह गति वर्णनसे बाहर है। (मानस-पत्रिका, सं० १९६४)

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥ ८॥

अर्थ—निर्गुण (अव्यक्त) और सगुणके बीचमें नाम सुन्दर साक्षी है। (नाम) चतुर दुभाषिया (दो भाषाएँ जाननेवाले) के समान दोनोंका (यथार्थ) बोध करानेवाला है॥ ८॥

नोट—१ नामको 'साक्षी, प्रबोधक और दुभाषिया' कहा। क्योंकि नामका जप करनेसे निर्गुण और सगुण दोनोंहीका बोध हो जाता है। दोहा २१ देखिये। जो ब्रह्मको नामरूपरहित कहते हैं वे भी तो उसको किसी-न-किसी नामहीसे पुकारते और जानते हैं, जैसे ईश्वर, परमात्मा, अलख। याज्ञवल्क्यस्मृति यथा—'**परमात्मानमव्यक्तं प्रधानपुरुषेश्वरम्। अनायासेन प्राप्नोति कृते तन्नामकीर्तने॥**' अर्थात् भगवन्नाम-कीर्तन करनेसे माया और जीवका स्वामी अव्यक्त परमात्मा अनायास प्राप्त हो जाता है।

नोट—२—*सुसाखी*=सु+साखी=सुन्दर साक्षी (गवाह)। 'सु' विशेषण इससे दिया कि एक गवाह ऐसे होते हैं कि जिधर झुकते हैं उधरहीकी-सी कहते हैं, सत्य-असत्यका विचार नहीं करते, जान-बूझकर दूसरेका पक्ष नाश ही कर देते हैं और श्रीरामनामके जपनेसे दोनोंकी यथार्थ व्यवस्था जानी जा सकती है। पुनः गवाह वादी-प्रतिवादी दोनों ओरके झगड़ेको साबित (निरूपण) करते हैं। इसी तरह नाम इस बातको साबित करते और इसका यथार्थ बोध भी करा देते हैं कि जो अगुण है वही सगुण और जो सगुण है वही अगुण ब्रह्म है। यथा—'***सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिज्ञानरूप बल धामा॥***' से '***प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥***** भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥ जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। जोइ जोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ।***' (उ० ७२ तक) इस तरह दोनोंका मेल करा देते हैं। अतः सुसाखी कहा।

नोट—३ '*चतुर दुभाषी*' इति। जब एक देशका रहनेवाला दूसरे देशमें जाता है जहाँकी बोली वह नहीं जानता, तब उसे दोनों देशोंकी बोली जाननेवालेकी आवश्यकता पड़ती है, जो इसकी बात उस देशवालोंको और उनकी इसे समझा दे—इन्हींको दुभाषिया कहते हैं। '*नाम*' को चतुर दुभाषिया कहा; क्योंकि—(क) देशभाषा समझा देना तो साधारण काम है और निर्गुण-सगुणका दृढ़ बोध कराना अति कठिन है, यह ऐसी सूक्ष्म बात है कि वेदोंको भी अगम है। (ख) दुभाषिया तो हर देशवालेको उसीकी बोलीमें समझाता है और श्रीनाममहाराज ऐसे चतुर हैं कि ये एक ही शब्दमें दोनोंका बोध करा देते हैं। यथा, राम=जो सबमें रमे हैं और सबको अपनेमें रमाये हैं। यथा, 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' यह निर्गुणका बोध हुआ। पुनः राम=जो रघुकुलमें अवतीर्ण हुए सो सगुण हैं। मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'राम' ऐसा नाम अक्षरोंके बलसे रूढ़िवृत्तिसे दशरथात्मजका बोध कराता है और योगवृत्तिसे निर्गुणका।

नोट—४ '*उभय प्रबोधक*' यथा—'**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**' (रा० पू० ता० १। ६) इति निर्गुणप्रबोधन। अर्थात् जिस अनन्त, सत्य, आनन्द और चिद्रूप परब्रह्ममें योगीलोग रमते हैं वही 'राम' शब्दसे कहे जाते हैं। यह निर्गुणका प्रबोध हुआ। पुनः यथा—'**चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीं स्थितः॥ स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।१। राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा। रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः।२।** 'इति श्रीरामतापि सगुणरामप्रबोधन।' (रा० पू० ता०)। अर्थात् रघुवंशी नरेश दशरथमहाराजके घरमें पुत्ररूपसे महाव्यापकत्वादि गुणवाले इन चिन्मय, भक्तदुःखहारी श्रीराम नामक ब्रह्मके भक्तानुग्रहार्थ अवतीर्ण होनेपर विद्वानोंने इस लोकमें भी उस परब्रह्मका वही श्रीरामनाम ही इसलिये प्रकट किया कि मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेपर भी वह भक्तोंको यथेष्ट देता है और पृथ्वीपर रहते हुए भी अपने दिव्यगुणोंसे दीप्त रहता है॥ १॥ जिसके द्वारा राक्षसलोग मरणको प्राप्त

हुए। राक्षसका रकार और मरणका मकार मिलाकर सम्पूर्ण राक्षसोंके मारनेवालेका नाम राम प्रसिद्ध हुआ। अथवा, जो शक्ति आदिमें सबसे बढ़कर है, उसका नाम राम है। अथवा अत्यन्त सुन्दर विग्रह होनेसे पृथ्वीपर 'राम' नामसे विख्यात है। (पं० रा० कु०)

नोट—५ जिसका समझना-समझाना दोनों ही कठिन है उसका भी प्रबोध करा देते हैं।

नोट—६ श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'नामका अर्थ अगुणरूपका साक्षी है और अक्षर सगुणरूपका साक्षी है; क्योंकि रूपवालेहीका नाम कहते बनता है। इस तरह नाम दोनोंको जनाता है और दोनोंसे अलग है। (रा० प०)

नोट—७ मानसमयङ्ककार लिखते हैं, *'जापक रघुबर बीचमें नाम दुभाषी राज। जो जापक अगुणहिं चहे अगुण जापकहि साज॥'* अर्थात् नाम जापक और श्रीरघुनाथजीके बीचमें नाम दुभाषियाका काम करता है, रघुनाथजीके रहस्य जापकको समझाकर और जापककी दीनता प्रभुको सुनाकर उसको प्रभुकी प्राप्ति कराता है और यदि जापकको निर्गुण ब्रह्मकी चाह हुई तो नाम उस जापकको निर्गुणकी प्राप्ति करा देता है।

नोट—८ बैजनाथजी लिखते हैं कि अगुण अन्तर्यामीरूप है और पररूप साकेतविहारी, चतुर्व्यूह, अवतारादि विभु और अर्चा सगुणरूप हैं। नाम दोनोंका हाल यथार्थ कह सकता है। पुनः, अगुण और सगुण दो देश हैं। दोनोंकी भाषा भिन्न-भिन्न है। अगुण देशकी बोली है, सारासारका विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपराम, तितिक्षा, समाधान और मुमुक्षुता) इत्यादि। सगुण देशमें श्रवण, कीर्त्तन आदि नवधा, प्रेमा, परा भक्ति मिलते हैं। वहाँकी बोली, धर्म, शान्ति, सन्तोष, समता, सुशीलता, क्षमा, दया और कोमलता आदि। नाम दोनोंकी बोली समझाकर दोनोंसे मिला देता है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—पहले कह आये हैं कि *'नामरूप गति अकथ'* और साथ ही उसे अनुभूतिका विषय भी बता आये हैं। अब यहाँ रूपके दो भेद बताकर दोनोंसे नामका अभिन्न सम्बन्ध एवं नामके द्वारा ही दोनोंके अभेदकी उपलब्धिका निरूपण किया गया। रूपके दो भेद कर दिये, निर्गुणस्वरूप और सगुणस्वरूप। समझ लेना चाहिये कि नाम और रूप *'अकथ'* हैं। अतएव नामके द्वारा इन दोनोंका सामञ्जस्य भी अकथ ही है। नामकी साधनासे ही ज्ञान होता है कि वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। तर्कके द्वारा अभेद प्रतिपादित नहीं हो सकता।

'समुझत सरिस नाम अरु नामी' से प्रारम्भ करके यहाँतक नाम और नामीका परस्पर सम्बन्ध, नामके द्वारा नामीकी उपलब्धि, नामीके दो स्वरूप निर्गुण और सगुण तथा दोनोंकी उपलब्धि एवं एकात्मता नामके द्वारा बतायी गयी। अब इसके पश्चात् नामके साधनका स्पष्टीकरण करेंगे।

नाम-वन्दनाके इस प्रसङ्गमें नामीकी इस चर्चाका क्या प्रयोजन था ? नामीके चरितके वर्णनके लिये तो पूरा 'मानस' ही है। यह बात समझ लेनी चाहिये। सामान्यतः साधक नामका जप करता है और उसका ध्यान नामीपर रहता है। इस प्रकार निष्ठामें विपर्यय होनेसे उसे साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। विलम्ब कई बार अश्रद्धा तथा उपरतिका कारण होता है। अतः इस दोषका यहाँ निराकरण हुआ है।

यहाँ यह समझाया गया है कि नाम स्वयं साधन और साध्य दोनों है। तुम आराध्यका सगुणरूप मानो या निर्गुण, दोनोंका स्वरूप है नाम। नाम स्वयं आराध्य है। वह स्वतः प्राप्य है। अतः साधककी निष्ठा नाममें आराध्यकी होनी चाहिये। नाममें प्रेम और निष्ठा होगी तो नामी तो बिना बुलाये हृदयमें प्रत्यक्ष हो जायगा। उसके लिये इच्छा एवं अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं। नाममें ही सम्पूर्ण अनुराग होना चाहिये। (मानसमणि)

दो०—रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ[१] जौं[२] चाहसि उँजियार॥ २१॥

१—बाहरौ—१७२१, १७६२, छ०। बाहरहु—१७०४। बाहेरहुँ—१६६१। २—जौं—१६६१

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (मुखरूपी दरवाजेकी) जीभरूपी देहलीपर श्रीरामनाम मणिदीपक रख, जो तू भीतर और बाहर भी उजाला चाहता है॥ २१*॥

नोट—१ श्रीरामनामको 'मणिदीप' कहनेका भाव यह है कि—(क) साधारण दीपकमें तेल-बत्तीके समाप्त होनेका भय तथा पतङ्गों और हवा इत्यादिका डर रहता है, फिर प्रकाश भी एक-सा नहीं बना रहता। नाम छोड़ अन्य साधन उस दीपकके समान हैं। उनमें धनके समाप्त होनेका डर और काम-क्रोधादिकी बाधाका भय रहता है। नाम-साधन मणिदीपसम है जिसमें किसी विघ्नका भय नहीं है। विनयपद ६७ और १०५ में भी नामको मणि कहा है। यथा—*'रामनाम महामनि', 'पायो नाम चारु चिंतामनि।'* भक्ति चिन्तामणिके लक्षण उ० १२० में कहे गये हैं और श्रीरामभक्तिमें नाम मुख्य है ही। (बा० १९) अतएव वे लक्षण यहाँ भी लगते हैं। लक्षण, यथा—*'परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ अचल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं।'* (७।१२०) (ख) जैसे मणिदीप बुझता नहीं, वैसे ही श्रीरामनाम जिह्वापर बराबर चलता रहे, जिह्वा कभी नामसे खाली न रहे, यह भी सूचित किया। वा, (ग) दुभाषियारूपसे अगुण-सगुणका यथार्थस्वरूप बताते हैं और मणिरूपसे उनके दर्शन भी करा देते हैं।

---

* श्रीनंगे परमहंसजी 'देहरी' का अर्थ 'दीयठ' करते हुए यह अर्थ लिखते हैं कि 'जीहरूपी दीयठपर रखकर द्वारपर धरु।' उनका आग्रह है कि 'जब दीपकका रूपक कहा जाता है तब दीयठका रूपक भी कहा जाता है, क्योंकि दीयठ दीपकका आधार है। अत: आधार आधारीरूपसे दीपक-दीयठका सम्बन्ध है। प्रमाण 'मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।' 'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ।' 'मणिदीप राजहिं।'''' में 'देहरी' का अर्थ सिवाय दीयठके दूसरा हो ही नहीं सकता, क्योंकि दरवाजेका प्रसङ्ग अभी तीन प्रसङ्गके बाद कहा गया है। यदि कोई महाशय हठवश 'देहली वा चौखटा' अर्थ करेंगे तो अल्पबुद्धिका विचार कहा जायगा।' दोहेके भाव ये हैं कि—(क) जैसे दीप-देहरी-संयोग वैसे ही नाम और जीहका 'संयोग' नाम जीभपर निरन्तर बना रहे। (ख) द्वारपर धरना मुखसे रटना है, क्योंकि जब द्वार खुला रहेगा, तभी भीतर उजाला होगा। मुख रटनेपर ही खुला रहता है। (ग) जैसे दीयठ दीपकके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें नहीं लायी जाती, वैसे ही जिह्वाको अन्य शब्दके उच्चारणमें न लाया जाय।'

वे० भू० पं० रा० कु० दासजी लिखते हैं कि अमरकोशमें गृहद्वारके अधोभाग (चौखट) को देहली बताया गया है। (अमरविवेक टीकाने विस्तारसे इसपर टीका की है।) पद्माकर और व्रजभाषाके ख्यातनामा कवियोंने भी इसी अर्थमें 'देहरी' का प्रयोग किया है। यथा—'एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरै, एक कर कंज एक कर है किंवार पर।' 'देहरी थरथराइ देहरी चढ़्यो न जाइ देह री! तनक हाथ देह री लंघाइ ले।' इत्यादि। 'मनिदीप राजहिं ''' देहरी बिद्रुम रची' इस तुकमें मूँगेका चौखट रचा जाना कहा जा चुका, इसीसे इस छन्दके चौथे तुकमें जब फाटकका वर्णन किया गया तब चौखटका वर्णन नहीं है। अत: 'देहरी' का चौखट अर्थ ही प्रामाणिक और समीचीन है। 'दीयठ' अर्थ उपयुक्त नहीं, क्योंकि दीयठका नियम नहीं कि द्वारपर ही रहे। दूसरे, दीयठ तो जहाँ चाहे तहाँ ही उठाकर रख सकते हैं और उससे काम ले सकते हैं, परन्तु उपमेयभूत जिह्वाको चाहे जहाँ रखकर काम नहीं ले सकते, वह तो मुखद्वारपर ही रहनेसे काम दे सकेगी। यहाँ शरीर घर, मुख द्वार, जिह्वा द्वारके अधोभागमें स्थित चौखट है, जो इसलिये है कि उसपर रामनामरूपी मणिदीप रखा जाय।

नोट—'देहरी' के 'दीयट' अर्थका प्रमाण किसी उपलब्ध कोशमें नहीं है। देहलीका सम्बन्ध घरके भीतर और बाहर दोनोंसे रहता है। देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनोंमें प्रकाश रहता है। इसी सम्बन्धसे 'देहलीदीपकन्याय' प्रसिद्ध है। दीपके साथ ही 'देहरी' का नाम रखनेका उद्देश्य यह हो सकता है कि 'देहली' और दीपकका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'देहलीदीपकन्याय' ही प्रसिद्ध हो गया और उस न्यायका प्रयोग देहली (चौखट) अर्थात् द्वारके मध्य भागपर दीपक रखनेसे जो दोनों ओर प्रकाश होता है उस भावको दर्शित करनेके लिये होता है। देहलीका अर्थ दीयठ यदि लें तो देहलीदीपकन्यायमें जो द्वार या चौखटका सम्बन्ध आ जाता है उसका बोधक शब्द फिर यहाँ कोई नहीं मिलता और ज्ञानदीपकप्रसङ्गमें भीतर-बाहरका कोई विषय नहीं है, केवल दीपक रखनेका प्रसङ्ग है, इसलिये वहाँ दीयट ही कहा गया, देहरी न कहा गया।

नोट—२ द्विवेदीजी—डेवढ़ीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला हो जाता है, इसी लिये संस्कृतमें 'देहलीदीप'-न्याय प्रसिद्ध है। और दीपकी शिखामें मोहसे अनेक अधम कीट-पतङ्गादि पतित होकर प्राण दे देते हैं, इसलिये वे सब दीप हिंसक हैं; परन्तु मणिदीपकी ऐसी शिखा है कि प्रकाश तो इतर दीपोंसे सौगुणा होता है और जीवहिंसा एक भी नहीं। यदि उस प्रकाशमें अधम, पतित आदि कीटपतङ्गादिके समान पतित हों तो शरीरनाशके बिना ही सब कल्मष भस्म हो जायँ और उनका रूप भी पवित्र होकर दिव्य हो जाय। और यह दीपशिखा प्रचण्ड विघ्नरूप प्रखर वायुसे भी नहीं बुझ सकती, इसलिये संसारमें यह अनुपम मणिदीप है। यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

मिश्रजी—यह देह मन्दिरके समान है, उसका द्वार मुख है, जिह्वा देहली है और जिह्वा इस तरहसे भी देहली है कि नेत्र और बुद्धि दोनोंके बीचमें है। इसपर नाम रहता है। अर्थात् जैसे डिब्बेके भीतर रत्न रहता है, उसी तरह बुद्धि और नेत्र दोनोंके बीच रसनापर रत्नरूपी नाम रहता है। रामनाम जपनेवालेको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने मनसे और वचनसे भजन करनेके फल भिन्न-भिन्न दिखाये हैं। *'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें॥'* यह मनसे स्मरण करनेका फल है। और, *'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उँजियार'* यह जिह्वासे भजन करनेका फल दिखाया। अर्थात् मनमें भजन करनेसे भगवान् हृदयमें आते हैं और जिह्वाद्वारा भजन करनेसे भीतर-बाहर देख पड़ता है। भीतर-बाहर उजाला हुआ तो भीतर निर्गुण, बाहर सगुण देख पड़ा। २ प्रथम कह आये कि नाम दोनों ब्रह्मको कहते हैं, अब नामजपसे दोनों ब्रह्मका प्रकट होना कहते हैं। नामके जपसे भीतर प्रकाश होता है तब निर्गुण ब्रह्मका अनुभव होता है, बाहर प्रकाश हो तब सगुण ब्रह्म देख पड़ेगा। [नोट—हृदयमें जो निर्गुण (अव्यक्त) रूप है उसका बोध होना भीतरका उजाला है, सगुण रूपका बोध होना बाहरका उजाला है। इस अर्थका प्रमाण दोहावलीमें है जिसमें यही दोहा देकर फिर ये दो दोहे दिये हैं। *'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम। मनहु पुरटसंपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'* (दोहा ७) *'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन तें दूरि। तुलसी सुमिरहु रामको नाम सजीवन मूरि॥'* (दोहा ८) 'भीतर-बाहरका उजाला क्या है और वह कैसे मिले?' यही इनमें बताया गया है जो इस अर्थसे मिलता है। दूसरे यहाँ प्रसंग भी सगुण-निर्गुणका है।] ३ 'निर्गुणके बिना जाने सगुणकी उपासना करें तो मोह हो जाता है, जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजीको हुआ। निर्गुणको बुद्धिसे निश्चित करके सगुणमें प्रीति करना चाहिये। (निर्गुण-उपदेश, यथा, *'माया संभव भ्रम सकल ……।'* सगुण उपदेश, यथा—*'मोहि भगति प्रिय संतत।'*) इसी तरह सगुणको बिना जाने निर्गुणकी उपासना करें तो कष्ट ही है जैसा कहा है, *'जे अस भगति जानि परिहरहीं।……।'* ४ निर्गुण-सगुण दोनोंको छोड़कर केवल नाम जपनेमें यह हेतु है कि *'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन तें दूरि। तुलसी सुमिरहु रामको नाम सजीवन मूरि॥'* ५ मणिदीप स्वत:सिद्ध है, उपाधिरहित है। इसको द्वारकी देहरीपर रखे तो निर्गुण ब्रह्म मकानके भीतर अन्त:करणमें देख पड़ता है सो जीभके भीतर है और सगुण मकानके बाहर नेत्रोंके आगे देख पड़ता है। नेत्रसे सगुणका दर्शन होता है सो जीभके बाहर है। इसलिये भीतर-बाहर कहा। ६ हृदयका मोहान्धकार दूर होना, निर्गुण-सगुण देख पड़ना, उजियार होना है।' [कोई-कोई महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि मोहका दूर होना भीतरका उजाला है। यथा—*'अचल अबिद्या तम मिटि जाई'* और इन्द्रियोंका दमन होना ही बाहरका उजाला है। यथा—*'खल कामादि निकट नहिं जाहीं।'* ७ *'जौं'* का भाव यह है कि बिना रामनामके जपे हृदयमें प्रकाश नहीं हो सकता, निर्गुण-सगुण ब्रह्म नहीं देख पड़ते। आगे भक्तोंके द्वारा इसका उदाहरण देते हैं।

शंका—आजकलके कुछ मतानुयायी कहते हैं कि *'जीह'* का अर्थ यहाँ जीभ नहीं है, क्या यह सही है?

समाधान—श्रीगोस्वामीजीने 'जीह शब्द बहुत जगह दिया है उससे निस्संदेह यह स्पष्ट है कि

श्रीगोस्वामीजीने 'जीह'से 'जीभ' ही बताया है। यथा—*'जीह हूँ न जपेउँ नाम बकेउँ आउ बाउ मैं'* (वि० २६१) वह कौन 'जीह' है जिससे अनाप-शनाप बकना कहते हैं? *'गैरगी जीह जो कहउँ और को हौं'* (वि० २२९); *'कान मूँदि करि रद गहि जीहा'* (अ० ४८); *'गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा'* (अ० १६२); *'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा॥'* (लङ्का० ३३); *'संकर साखि जो राखि कहउँ कछु तौ जरि जीह गरो'* (वि० २२६) इत्यादिमें जो जीह शब्द आया है वह इस जीभके लिये यदि नहीं है तो वह और कौन 'जीह' है जिसका गलना, दाँतोंसे दाबना, उखाड़ना, जलकर गिरना इत्यादि कहा गया है?

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥ १॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥ २॥

अर्थ—१ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं (जिससे) वे ब्रह्माके प्रपंचसे विशेष योग रखते हुए भी पूर्ण विरक्त हैं॥ १॥ उपमारहित ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं जो अकथनीय है, निर्दोष है और जिसका न नाम है न रूप॥ २॥ (प्रोफे० दीनजी)

अर्थ—२ जो वैराग्यद्वारा ब्रह्माके प्रपञ्चसे (संसारके व्यसनादिके) वियोगी हैं (छोड़े हैं) वे योगी भी जिह्वासे नामको जपकर जागते हैं और अनिर्वचनीय, अनामय, नामरूपरहित ब्रह्मके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं। (द्विवेदीजी, मिश्रजी)

अर्थ—३ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं। (जिससे वे) वैराग्यद्वारा (अर्थात् वैराग्य प्राप्त करके) विधिप्रपंचसे वियोगी (उदासीन) हो जाते हैं और अनुपम, अकथ्य, अनामय (रोगरहित, निर्दोष), नामरूपरहित ब्रह्मके सुखका अनुभव करते हैं। (पं० रामकुमारजी प्रभृति)

नोट—१ प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि यहाँ *'बियोगी'* शब्द मेरी रायसे जोगीका विशेषण है अर्थात् योगसाधनसमय भी कुछ वस्तुओं (वल्कल-वस्त्र, कमण्डल आदि) से निर्वाहार्थ योग (सम्बन्ध) रखते हुए भी नामको जिह्वासे जपकर ब्रह्माकृत सृष्टिसे विरति प्राप्त करके चेतनात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे राजा जनक आदि विधिप्रपंचसे विशेष योग रखते हुए भी पूर्ण विरक्तवान् थे। विशेषण न माननेसे 'वियोगी' और 'विरति' में पुनरुक्ति दोष हो जायगा।

टिप्पणी १—पहले कहा कि *'रामनाम मनिदीप धरु।'* यह कहकर अब मनका उत्साह बढ़ानेके लिये चार प्रकारके भक्तोंका उदाहरण देते हैं कि देख, सबका आधार रामनाम ही है, सभी इसको जपते हैं, तू भी जप। देख, नामजपसे केवल अगुण-सगुणहीका ज्ञान नहीं होता, किन्तु सब पदार्थ प्राप्त होते हैं, संकट दूर होते हैं, सब मनोरथ पूरे होते हैं और वैराग्य होकर ब्रह्मसुखका आनन्द प्राप्त होता है। (पं० रामकुमारजी)

नोट—२ *जोगी*-जो आत्माका परमात्मासे योग किये रहते हैं। यथा—*'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥'* (१।२६) पुनः, योगदर्शनमें अवस्थाके भेदसे योगी चार प्रकारके कहे गये हैं। (१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यासका केवल आरम्भ किया हो और जिनका ज्ञान अभी दृढ़ न हुआ हो। (२) मधुभूमिक, जो भूतों और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहते हों। (३) प्रज्ञाज्योति, जिन्होंने इन्द्रियोंको भलीभाँति अपने वश कर लिया हो। और, (४) अतिक्रानभावनीय, जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों और जिनका केवल चित्तलय बाकी रह गया हो। (श० सा०)

पं० रामकुमारजीके मतसे योगी=ज्ञानी, संयमी। और बैजनाथजी योगीसे अष्टाङ्गयोग-साधन करनेवाले ऐसा अर्थ करते हैं। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि यहाँ ज्ञानीको 'योगी' नहीं कहा। ज्ञान, योग, वैराग्य और विज्ञान चारों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। यहाँ 'योगी' मुमुक्षु है, मुक्ति पानेकी इच्छासे योगद्वारा ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, विधिप्रपञ्चसे वियोगी होकर विरागी होता है। इनमें योगके सब लक्षण यम-नियम आदि घटते हैं। आगे गूढ़ गतिके जाननेवाले ज्ञानी हैं, क्योंकि उनको और कोई आकांक्षा नहीं है।

श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि यहाँ *'जोगी'* से परोक्ष ज्ञानी अभिप्रेत है। 'वह परोक्ष-ज्ञान रखता है और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के लिये नाम-जप करता है।' (मानसमणि)। इस प्रसङ्गपर विशेष दोहा २२ में लिखा जायगा, वहाँ देखिये।

पं० रामकुमारजीका तथा प्राय: अन्य टीकाकारोंके मतानुसार यहाँ 'ज्ञानी भक्त' ही योगी हैं। ज्ञानी भी नाम जपते हैं। यथा—'**प्रायो विवेकिनः सौम्य वेदान्तार्थैकनैष्ठिकाः। श्रीमतो रामभद्रस्य नामसंसाधने रताः॥**' (बृहद्विष्णुपुराण) गोस्वामीजीने आगे कहा भी है कि *'रामभगत जग चारि प्रकारा। ग्यानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा॥'* ज्ञानी विशेष हैं, इसीसे यहाँ ज्ञानीहीका दृष्टान्त प्रथम देते हैं।

नोट—३ *'जागहिं जोगी'* का भाव यह है कि यह संसार रात है, इसमें योगी जागते हैं। यथा, *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी।'* (२। ९३) तथा '**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।**' (गीता २। ६९) पुन:, यहाँ मोह रात्रि है। इस संसारके व्यवहार स्वप्न हैं, जो मोहरूपी रात्रिमें जीव देख रहा है और सत्य मानता है। इस संसार वा मोहरात्रिमें योगी नामके बलसे जागते हैं। (अर्थात् संसारी सब व्यवहार और वस्तुओंसे योगीको वैराग्य रहता है) यथा—*'सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥'* (२। ९२)

प्रश्न—*'जागहिं'* से पहले सोना पाया जाता है। यहाँ रात, सोना और जागना क्या है? नोट (३) में इनका उत्तर संक्षेपसे दिया जा चुका है। पुन:, देह, स्त्री, पुत्र, धन, धाम, देह सम्बन्धमात्रको अपना मानकर उनमें ममत्व करना, आसक्त होना ही सोते रहना है। यथा—*'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'* (वि० १४०) *'मोह निसा सब सोवनिहारा......।'* (अ० ९३) इन सबको नाशवान् और बाधक जानकर इनकी मोह-ममता छूटना, विषयसे वैराग्य होना 'जागना' है। यथा—*'अहंकार ममता मद त्यागू।', 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू॥'* (लङ्का० ५५), *'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।'* (अ० ९३), *'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।'* (वि०), *'बिषया परनारि निसा तरुनाइ, सुपाइ परेउ अनुरागहि रे। जम के पहरू दुखरोग बियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे॥ ममता बस तैं सब भूलि गयउ, भयो भोर महाभय भागहिं रे। जरठाइ दिसा रविकाल उयउ अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे॥'* (क० उ० ३१)

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जागना' योगसिद्धिको भी कहते हैं। यथा *'गोरख जगायो जोग भगति भगायो—'* (क० ६। ८४) इस तरहसे यह भाव निकलता है कि नामके जपसे योगी जागते हैं, उनका विरागयोग जागता है अर्थात् सिद्ध होता है—*'राग रामनाम सों बिराग जोग जागि है।'*

नोट—४ जागना कहकर *'बिरति'* होना और *'बिधि प्रपंच'* से वियोगी होना कहा। क्योंकि ये क्रमश: जागनेके चिह्न हैं। जबतक चित्तमें प्रपञ्च रहता है तबतक ब्रह्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये प्रपञ्चसे वियोग होना कहकर ब्रह्मसुखका अनुभव करना कहा।

नोट—५ **बिरंचि प्रपंच=ब्रह्माके भवजालसे। प्रपंच**=सृष्टि; सृष्टिके व्यवहार, जञ्जाल, सांसारिक सुख और व्यवहारोंका फैलाव। यथा—*'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति कर्म अरु कालू॥ धरनि धामु धनु पुर परिवारू।—देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥'* (अ० ९२) *'बियोगी'* अर्थात् 'प्रपञ्चमें अभाव हो जाता है, उससे मन हट जाता है।=उदासीन। ऐसा ही टीकाकारोंने लिखा है।'

नोट—२२ (१) के जोड़की चौपाई यह है *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।'* (२। ९३)

नोट—६ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि *'अनूपा, अकथ* इत्यादि ब्रह्मके विशेषण हैं। उपमा देकर उसे दिखाना चाहे तो नहीं हो सकता। पुन: उसे कहकर भी नहीं दिखा सकते। क्योंकि '*मन समेत जेहि जान न बानी।'* तो उसका वर्णन कैसे हो सके ? *'अनामय'* पद देकर सूचित किया कि प्रपञ्चके द्वारा

भी दिखाना असम्भव है। जो कहो कि नामरूपद्वारा तो दिखा सकोगे तो उसपर कहते हैं कि वह (मायिक) नामरूपरहित है। ऐसे ब्रह्मसुखको नाम प्राप्त करा देता है।'

नोट—७ *'अकथ अनामय नाम न रूपा'* इति। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'ब्रह्मसुख नाम है ही, तब 'अनाम' कैसे हुआ ? 'अनाम' कहनेमें अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसुख तो यौगिक नाम अथवा लाक्षणिक है, रूढ़ि नहीं है। जैसे दाशरथी, रघुनन्दन आदि यौगिक हैं। रघुसिंह, काकपक्षधर लाक्षणिक हैं। ऐसा ही *'ब्रह्मसुख'* को जानिये। ब्रह्मका जो सुख वह ब्रह्मसुख। 'ब्रह्म ऐसा पद छोड़के अनाम हैं, सुखेति वस्तुतः नामशून्य, कौन वस्तुका नाम है सुख ? अतएव अनाम है। अरूप कैसे है ? जैसे देही-देह है। जब देही देहाश्रित है तब देहवत् है और जब देही देहभिन्न है, तब अरूप है। इसी प्रकार जब ब्रह्मसुख ब्रह्माश्रित है तब रूपवान् है और जब ब्रह्मसे भिन्न देखना चाहें तो रञ्चक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव अरूप है।'

जाना[१] चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं[२] तेऊ॥ ३॥

अर्थ—जो गूढ़ गतिको जानना चाहते हैं, वे भी नामको जिह्वासे जपकर जान लेते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'जेऊ' और 'तेऊ' से तात्पर्य उन मनुष्योंसे है जो योगी नहीं हैं और ब्रह्मसुखको जानना चाहते हैं। (ख) 'गूढ़ गतियाँ' अनेक हैं। आत्मा-परमात्माकी गति; कालकर्मकी गति; ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी गति; तत्त्व, माया और गुणकी गति; इत्यादि। [विज्ञानी अखण्ड ज्ञान कैसे प्राप्त करके उसमें मग्न रहता है ? वह सुख कैसा है ? श्रीपार्वतीजीने यह कहकर कि *'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं'* (१। ११०) फिर प्रश्न किया है कि *'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ज्ञानी॥'* (१। १११) अथवा, प्रभुके गुप्त रहस्य; जीव और परमात्माके बीचमें जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धि, अहङ्कार और माया ये आठ आवरण हैं उनका जानना, इत्यादि 'गूढ़ गति' में आ जाते हैं।] इसीसे 'गूढ़ गति' का कोई विशेष नाम नहीं दिया। अथवा, 'गूढ़ गति' से 'ब्रह्मसुखका अनुभव' ही सूचित किया। (ग) क्रियाका सम्बन्ध वस्तुके साथ होता है, नामके जपसे हृदयमें प्रकाश होता है। इसीसे गूढ़ गति जानते हैं। (घ) ये जिज्ञासु भक्त हैं। जिज्ञासु ब्रह्मकी जिज्ञासा करता है, इसीसे योगीके पीछे जिज्ञासुका उदाहरण दिया। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि पहले ज्ञानीको कहकर अब जिज्ञासुको कहते हैं। इसको न परोक्ष ज्ञान है और न अपरोक्ष। इसको दोनोंकी चाह है। ज्ञानीको अपरोक्ष ज्ञानकी चाह थी, परोक्ष ज्ञान उसे था ही। (मानसमणि)

साधक नाम जपहिं लय[३] लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥ ४॥

शब्दार्थ—लय=तदाकार वृत्ति। चित्तकी वृत्तियोंका एक ही ओर प्रवृत्त होना। **अनिमादिक**=अणिमा आदि सिद्धियाँ। अणिमाको आदिमें देकर यहाँ प्रधान आठ या अठारह सिद्धियाँ सूचित कीं। भा० ११। १५ में भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि आठ सिद्धियाँ प्रधान हैं, जो मुझे प्राप्त होनेपर योगीको मिल जाती हैं। ये मेरी स्वाभाविक सिद्धियाँ हैं। मं० सोरठा १ *'जो सुमिरत सिधि होइ'* में देखिये।

अर्थ—साधक लौ लगाकर नामको जपते हैं और अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं॥ ४॥

१—जानी—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। जाना—१६६१ ('जानी' को हरताल देकर 'जाना' शुद्ध किया है)। को० रा०।

२—जानहु (शं० ना० चौ०)—१७०४। (परन्तु रा० प० में 'जानहिं' है।) १६६१ में 'जानहु' था, हरताल देकर शुद्ध किया गया है।

३—लौ—१७२१, १७६२, छ०। लउ-को० रा०। लय-१६६१, १७०४।

नोट—१ 'साधक' शब्द स्वभावतः पारमार्थिक साधन करनेवालेमें रूढ़ है। वह साधक यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उसकी निवृत्तिके लिये यहाँ 'अनिमादिक' शब्द दिया है। 'अनिमादिक' शब्द देकर उसका अर्थार्थित्व सूचित किया है। 'साधक' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अनिमादिक सिद्धियाँ (जो परम्परासे अर्थप्रद होती हैं) प्राप्त करनेके लिये जप आदि साधन करना पड़ता है। गीतामें जो 'अर्थार्थी' शब्द आया है उसका अर्थ गोस्वामीजीने 'साधक' शब्द देकर खोल दिया है कि संसारी जीवोंसे खुशामदादि करके अर्थप्राप्ति चाहनेवाला यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु जो भगवदाराधनद्वारा ही अर्थकी प्राप्ति चाहता है उसीसे यहाँ तात्पर्य है।

नोट—२ (क) *'लय लाएँ'* इति। अर्थात् उसीमें लगन, गूढ़ अनुराग, लगाये हुए, एकाग्रमनसे। ब्रह्माण्ड-पुराणमें 'लय' के सम्बन्धमें यह श्लोक मिलता है—'**पाठकोटिसमा पूजा पूजाकोटिसमो जपः। जपकोटि-समं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥**' (अज्ञात) पूजा करोड़ों पाठके समान है, जप करोड़ों पूजाके समान है, ध्यान करोड़ों जपके समान है और लय करोड़ों ध्यानके समान है। [पं० रामकुमारजीके संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक है; पर मेरी समझमें यहाँ 'लय' का अर्थ 'लगन' है। यथा—*'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥'* (७। ११०)] (ख) *'लय लाएँ'* अर्थात् अपनी कामना या सिद्धियोंमें मनको लगाये हुए। (श्रीव्यासजी, श्रीरूपकलाजी) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि जहाँ भी कामना है वहाँ विधि है। विधिका ठीक पालन होनेपर ही कामनाकी सफलता निर्भर है। यह स्मरण रहे कि कामनाओंके विनाशकी कामना, ब्रह्मात्मैक्यकी इच्छा, स्वरूपके प्रति जिज्ञासा, भगवत्साक्षात्कारकी कामनाको कामना नहीं माना जाता। अतएव योगी तथा जिज्ञासु ये दो निष्काम भक्त हैं। उनके लिये किसी विधिका बन्धन नहीं। उन्हें *'जीह जपि'* केवल नामका चाहे जिस अवस्थामें चाहे जैसे जप करनेको कहा गया पर साधकको तो सिद्धि चाहिये। अतएव उसे विधिका पालन करना पड़ेगा। उसके लिये कहा है कि *'लय लाये'* जप करना चाहिये। नामजपमें उसका मन लगा होना चाहिये और जिस सिद्धिकी कामना हो भगवान्‌के वैसे रूपमें चित्त स्थिर होना चाहिये। भा० ११। १५ में विविध सिद्धियोंके लिये ध्यान बताये गये हैं। अतः यहाँ *'लय लाये'* कहा। (ग) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ये अर्थार्थी भक्त हैं। इनका मन धनकी प्राप्तिमें अत्यन्त लगता है। ये भक्त अणिमादिक सिद्धियोंको पाकर अर्थको सिद्ध होते हैं। पुनः, (घ) किसी-किसीका यह मत है कि यद्यपि मन सिद्धियोंमें लगा है तो भी उनकी प्राप्तिके लिये एक लयसे नाम जपते हैं। (ङ) *'होहिं सिद्ध'*। यथा—*'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥'* (बा० १११)

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥ ५॥

अर्थ—बड़े ही आर्त (पीड़ित, दुःखित) प्राणी (भी) नाम जपते हैं तो उनके बड़े बुरे संकट (दुःख, आपत्ति) मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'आरत भारी'* इति। (क) भाव यह कि बड़े-बड़े कठिन दुःख दूर हो जाते हैं, छोटे-मोटेकी बात ही क्या? 'आर्तजनके कुसंकट ही नहीं मिटते, किन्तु वे सुखी भी होते हैं। क्योंकि प्रभु संकट मिटाकर दर्शन भी देते हैं। जैसे गजेन्द्र, प्रह्लाद, द्रौपदी आदिके संकट मिटाये और दर्शन दिये। (ख) मिलता हुआ श्लोक यह है—'**आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः। संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं ते मुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥**'(पाण्डवगीता) अर्थात् आर्त, दीन, ग्लानियुक्त, घोर व्याधियोंमें वर्तमान ऐसे लोग भी भगवन्नाम जपकर दुःखसे मुक्त और सुखी हो जाते हैं। (ग) *'भारी'* पद देकर सूचित किया है कि साधारण दुःखमें तो भक्त प्रभुको सङ्कोचमें नहीं ही डालते, जब ऐसा कोई भारी ही कष्ट आ पड़ता है कि जो प्रभु ही निवारण कर सकते हैं, अन्यथा दूर नहीं हो सकता, तभी प्रभुसे कष्ट दूर करनेके लिये कहते हैं।' इसके उदाहरणमें श्रीद्रौपदीजीहीको लीजिये। जब आप राजसभामें लायी जाने लगीं तब प्रथम तो आपने साड़ी कसकर बाँध ली थीं, पुनः, दरबारमें

भीष्मपितामहजी, द्रोणाचार्यजी, आदि गुरुजनोंका भरोसा था। पुनः पाँचों विख्यात वीर पाण्डव पतियोंका भरोसा जीमें रहा। जब इन सब उपायोंसे निराश हुईं तभी उन्होंने भगवान्‌को कष्टनिवारणार्थ स्मरण किया। ऐसा ही गजेन्द्रका हाल है। इत्यादि।

टिप्पणी २ (क) इन पाँच चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि योगी (ज्ञानी), जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त इन चारोंको अपनी मनोकामनाकी सिद्धिके लिये नामका जप आवश्यक है। इसीसे सब प्राप्त हो जाते हैं। (ख) अर्थार्थीके पीछे आर्त भक्तोंको कहा। क्योंकि द्रव्यके पीछे दुःख होता है।

नोट—१ ***'जीह जपि'*** और ***'जपहिं'*** इन शब्दोंका प्रयोग इन चौपाइयोंमें किया गया है। हिन्दी-शब्दसागरमें 'जप' शब्दकी व्याख्या यों की गयी है—(१) किसी मन्त्र वा वाक्यका बारम्बार धीरे-धीरे पाठ करना। (२) पूजा वा सन्ध्या आदिमें मन्त्रका संख्यापूर्वक पाठ करना। पुराणोंमें जप तीन प्रकारका माना गया है। मानस, उपांशु और वाचिक। कोई-कोई उपांशु और मानस जपके बीच जिह्वा-जप नामका एक चौथा जप भी मानते हैं। ऐसे लोगोंका कथन है कि वाचिक जपसे दसगुना फल उपांशुमें, शतगुना फल जिह्वा-जपमें और सहस्रगुना फल मानसजपमें होता है। मन-ही-मन मन्त्रका अर्थ मनन करके उसे धीरे-धीरे इस प्रकार उच्चारण करना कि जिह्वा और ओंठमें गति न हो, **'मानसजप'** कहलाता है। जिह्वा और ओंठको हिलाकर मन्त्रोंके अर्थका विचार करते हुऐ इस प्रकार उच्चारण करना कि कुछ सुनायी पड़े 'उपांशु जप' कहलाता है। जिह्वा-जप भी उपांशुहीके अन्तर्गत माना जाता है, भेद केवल इतना ही है कि 'जिह्वा-जपमें जिह्वा हिलती है पर ओष्ठोंमें गति नहीं होती और न उच्चारण ही सुनायी पड़ सकता है। वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना 'वाचिक जप' कहलाता है। जप करनेमें मन्त्रकी संख्याका ध्यान रखना पड़ता है, इसलिये जपमें मालाकी भी आवश्यकता होती है।' श्रीमद्‌गोस्वामीजीने 'नामजप' के प्रसंगमें 'जपना, रटना, रमना, सुमिरना, कहना, घोखना, जतन करना इन शब्दोंका प्रायः प्रयोग किया है। 'जप' शब्द बहुत जगह साधारण ही बारम्बार कहनेके अर्थमें कहा है और इस शब्दके साथ ही 'रसना' 'जीह' वा अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग भी जहाँ-तहाँ किया है जिससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि वे 'जप' शब्द प्रायः जिह्वासे बारम्बार उच्चारणहीके लिये लिखते हैं। और कहीं-कहीं प्रसङ्गानुकूल मन लगाकर स्मरण वा 'जिह्वा-जप' करनेके अर्थमें भी लाये हैं। श्रीगोस्वामीजीने साधनावस्थामें उच्च-स्वरसे ही उच्चारणको विशेष माना है। कारण यह कि इससे सुननेवालेका भी उपकार होता है।

नोट—२ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि गोस्वामीजीने तो मनके कर्मको स्थान-स्थानपर प्रधान कहा है, यथा—***'तुलसी मन से जो बनै बनी बनाई राम'*** (दोहावली), ***'मन रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै'*** (वि० ७०) इत्यादि। फिर यहाँ जिह्वासे जपना क्यों लिखा ? इसका कारण महारामायणसे स्पष्ट हो जाता है। वह यह है कि अन्तःकरणसे जपनेसे जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जीभसे जपनेसे भक्ति मिलती है जिससे प्रभु शीघ्र 'द्रवते' हैं। पुनः, जापकको दूसरेकी सहायताकी जरूरत नहीं पड़ती। यथा—**'अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च रामसमीपकाः॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषां चैव परा भक्तिर्नित्यं रामसमीपकाः॥', 'योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः सुकर्मनिरताश्च ये। रामनाम्नि रताः सर्वे रमुक्रीडात्तु एव वै॥'** (महारामायण ५२। ७१। ७३) अर्थात् वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा किसी वाणीका अवलम्बन लेकर अन्तर्निष्ठ होकर जो नाम जपते हैं वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, किन्तु उनको श्रीरामसामीप्यकारिणी परा भक्ति नहीं मिलती है॥ ७१॥ जो अन्तःकरणके अनुरागसहित जिह्वासे नाम जपते हैं उनको नित्य ही भगवत्-सान्निध्यकारिणी प्रेमपराभक्ति प्राप्त होती है॥ ७२॥ योगी, ज्ञानी, भक्त तथा कर्मकाण्डी ये चारों श्रीरामनाममें रत रहते हैं। अतएव रामनामसे निष्पन्न रमु क्रीडा कहा जाता है। पुनः यहाँतक जो साधन बताया गया वह उनके लिये है जिन्हें कुछ भी कामना है। कामनाओंके रहते मनसे जप हो नहीं सकता, क्योंकि मन बराबर चञ्चल रहेगा। जब समस्त कामनाहीन हो जाय तभी मानसिक जप स्वाभाविक

हो सकेगा। उस अवस्थाके प्रेमी जापकोंकी चर्चा आगे दोहेमें ग्रन्थकारने की है। साधनावस्थावालोंके लिये जिह्वासे ही जप करना बताया है। इसीसे धीरे-धीरे वह अवस्था प्राप्त होनेपर तब मनसे जप होगा।

राम-भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥ ६॥
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा॥ ७॥

शब्दार्थ—**सुकृती**=पुण्यात्मा, भाग्यवान्, धन्य। यथा—'**सुकृति पुण्यवान् धन्य इति**' (अमरकोश ३। १। ३) **अनघ**=पापरहित। **उदार**=श्रेष्ठ। **अधारा**=आधार, सहारा, अवलम्ब।

अर्थ—जगत्में श्रीरामभक्त चार प्रकारके हैं। चारों पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार होते हैं॥ ६॥ चारों चतुर भक्तोंको नामहीका अवलम्ब है। इनमेंसे ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीमद्भगवद्गीतामें चार प्रकारके भक्त कहे गये हैं। उसीका अनुसरण करते हुए गोस्वामीजीने भी चार प्रकारके भक्तोंका होना कहा। (ख) यहाँ चार प्रकारके भक्त कहे और चार ही विशेषण दिये। सुकृती, अनघ, उदार और चतुर ये चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। क्योंकि चारोंको और किसी साधन वा देवादिका भरोसा नहीं है। अर्थकी कामना होगी तो भी अपने ही प्रभुसे माँगेंगे; संकटमें भी अपने ही प्रभुका स्मरण करेंगे, क्योंकि ऐसा न करें तो फिर विश्वास ही कहाँ, यथा—'*मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहाँ बिस्वासा॥*' (७। ४६)

नोट—१ चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। इस प्रकार कि—(१) जो सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरामजीके हो रहे वे ही सुकृती हैं, यथा—'***सो सुकृती सुचिवंत सुसंत सुजान सुसील सिरोमनि स्वै।''''' सत भाव सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै।***' (क० उ० ३४) '***सकल सुकृतफल राम सनेहू।***' (१। २७) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि '**सुकृती**' भगवान्‌को प्राप्त होते हैं। जो दुष्कृती हैं वे प्रभुका भजन नहीं करते और न प्रभुको प्राप्त होते हैं। यथा—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।**' (गीता ७। १५) (२) जो भजन करते हैं वे अनघ हैं, क्योंकि जो प्रभुके सम्मुख हो उनका नाम जपने लगे उसमें पाप रह ही नहीं सकता। जिनको भजन भाता ही नहीं, जो भजन नहीं करते और श्रीरामविमुख हैं वे ही 'अघी' हैं, उन्हींके लिये कहा है कि '***पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥***' (५। ४४) पुनः स्मरण रहे कि पुण्यसे पाप कटते हैं पर यह नियम नहीं है कि प्रत्येक पुण्यसे प्रत्येक पाप कटे। जो जिसका बाधक होता है उसीको वह काटता है। इस नियमानुसार सुकृती भी पापयुक्त हो सकते हैं, इसीके निराकरणार्थ '***सुकृती***' कहकर '***अनघ***' कहा। तात्पर्य कि यह पुण्यवान् भी हैं और पापरहित भी। (३) जो उदारका साथ करता है वह भी उदार ही हो जाता है। ये भक्त श्रीरामनामको धारण किये हैं जो उदार हैं, यथा—'***एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन''''' ।***' (१। १०) इसलिये भी उदार हुए। आप पवित्र हुए और दूसरोंको नाम-भजनका उपदेश दे पवित्र करते हैं, यह उदारता है। पुनः 'उदार' शब्दका एक अर्थ है 'महान्'; यथा—'**उदारो दातृमहतोः**' इति (अमरकोश ३। २। ९१)। '**महतो महीयान्**' ऐसे परमात्माका आश्रय करनेवाला भी तो महान् होना चाहिये। इस भावमें तात्पर्य यह है कि तुच्छ वस्तुओंके लिये भगवान्‌का आश्रय करनेसे कोई-कोई इनको तुच्छ या छोटा कह सकते हैं, अतः कहते हैं कि ये छोटे नहीं हैं बड़े हैं। यद्यपि ज्ञानी और जिज्ञासुकी अपेक्षा ये छोटे हो सकते हैं तथापि अन्य लोगोंकी अपेक्षा बड़े ही हैं; जैसे राजा-महाराजाका टहलुआ हम सब साधारण लोगोंके लिये बड़ा है। पुनः, उदार वह है जो अपना कुछ त्याग करे। इन भक्तोंने अपना क्या छोड़ा है? जीवके पास सबसे बड़ा उसका अपनापन है उसका अहङ्कार, उसका अपनी शक्तिका भरोसा। नामका आश्रय लेनेवाला अपनी शक्तिके अहङ्कारको छोड़कर भगवान्‌के द्वारा अपना लौकिक या पारलौकिक उद्देश्य पूर्ण करनेमें लगा है। उसने अपने अहङ्कारको शिथिल करनेकी महती उदारता दिखलायी है, अतः वह उदार कहा गया। (श्रीचक्रजी)

पुनः, 'उदार' का एक अर्थ 'सरल' भी है, यथा—'**दक्षिणे सरलोदारौ।**' इति (अमरकोश ३। १। ८) इस अर्थके अनुसार चारों रामभक्तोंको 'सरल' अर्थात् सीधा-सादा जनाया। यह गुण भक्तों-संतोंमें श्रीरामजीने आवश्यक बताया है, यथा—'*सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती।*' (३। ४६। २) '*सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥*' (७। ३८। ६) '*सरल सुभाव न मन कुटिलाई। यथालाभ संतोष सदाई॥*' (७। ४६। २)'*नवम सरल सब सन छलहीना।*' (३। ३६। ५) इत्यादि। (४) जो श्रीरामजीका भजन करते हैं, वे ही चतुर हैं। यथा—'*परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर।*' (आ० ६) अतएव इन सबको चतुर कहा। यहाँ और गीतामें आर्त्त और अर्थार्थीको भी, सुकृती, उदार और अनघ कहनेसे भगवान्‌की उदारता, दयालुता आदि देख पड़ती है कि किसी प्रकारसे भी जो उनके सम्मुख होता है, स्वार्थके लिये ही क्यों न हो तो भी वे उसको सुकृती आदि मान लेते हैं। यथा—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥**' (गीता ९। ३०) आर्त्त आदि सकाम भक्तोंको भी सुकृती, अनघ आदि कहनेका यह भी भाव हो सकता है कि कदाचित् कोई कहे कि साधारण कामनाओंके लिये उस '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ**' को कष्ट देना यह उचित नहीं जँचता तो उसके निराकरणार्थ उनको '**सुकृती**' कहा। पुनः, यदि कोई कहे कि 'पापीने यदि किसी कामनासे नाम जपा तो उसका फल 'कामनाकी पूर्ति' उसको मिल गया, तब पाप तो उसका बना ही रहा। तब अनघ कैसे कहा ?' तो इसका समाधान यह है कि जैसे कोई किसी कार्यके निमित्त अग्नि जलावे, तो उससे वह कार्य (रसोई आदि) तो होता ही है पर साथ-ही-साथ शीतका भी निवारण हो जाता है, उसी प्रकार श्रीरामनामके जपसे कामनाकी सिद्धिके साथ-साथ जापकके पाप भी नष्ट हो जाते हैं। अतः वह अनघ कहा गया।

टिप्पणी २—ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। कारण कि ये एकरस रहते हैं और भक्त प्रयोजनमात्रके लिये बड़ी प्रीति करते हैं। प्रयोजन सिद्ध होनेपर वैसी प्रीति फिर बनी नहीं रहती। ज्ञानी परमार्थमें स्थित हैं। अन्य तीन भक्त स्वार्थसहित भजन करते हैं। स्वार्थसे परमार्थ विशेष है ही। इसीलिये ज्ञानीको श्रेष्ठ कहा। "विशेष" कहकर जनाया कि अन्य भी प्रिय हैं पर ये उनसे अधिक प्रिय हैं।

नोट—२ मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥**'(गीता ७। १५-१८) अर्थात् मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको प्राप्त मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्मवाले मूढ़ मुझे नहीं भजते हैं ॥ १५॥ चार प्रकारके सुकृती पुरुष मुझे भजते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी॥ १६॥ इनमेंसे मुझमें नित्य लगा हुआ और मुझमें ही अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त विशेष उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अति प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है॥ १७॥ यद्यपि ये सभी उदार हैं तथापि ज्ञानी तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है। ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह स्थिर बुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें ही भली प्रकार स्थित है॥ १८॥ गीताके उपर्युक्त अठारहवें श्लोकमें ज्ञानीको भगवान्‌ने अपनी आत्मा कहा है और गोस्वामीजीने 'आत्मा' के बदले 'विशेष प्रिय' कहा है, इस तरह उन्होंने 'आत्मा' का भाव स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌को वैसा ही विशेष प्रिय है जैसे मनुष्योंको आत्मा प्रिय है। पुनः 'आत्मा' शब्द यहाँ न देकर उन्होंने अपना सिद्धान्त भी बता दिया है। 'आत्मा' शब्दसे अद्वैतमतका प्रतिपादन किया जा सकता है पर '*बिशेष पिआरा*' शब्दसे अद्वैतमत नहीं रह जाता।

नोट—३ यहाँ गोस्वामीजीने चार प्रकारके भक्तोंमेंसे एककी ज्ञानी संज्ञा दी है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि जो रूखे ज्ञानी हैं और रामभक्त नहीं हैं उनका यहाँ कथन नहीं है। भक्तिहीन ज्ञानी अन्य सब साधारण

प्राणियोंके समान प्रभुको प्रिय हैं, भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं। यथा—'*भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥*' (उ० ८६)

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥ ८॥

अर्थ—चारों युगों और चारों वेदोंमें 'नाम' का प्रभाव (प्रसिद्ध) है और खासकर कलियुगमें तो दूसरा उपाय है ही नहीं॥ ८॥

नोट—१ '*चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ*' इति। (क) सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तीन युगोंके प्रमाण क्रमसे ये हैं—'*नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू।*' (१। २६) '*ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥*' (१। २६) '*जो सुनि सुमिरि भाग भाजन भइ सुकृतसील भील भामो।*' (विनय० २२८), '*आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते॥*' (७। १३०) '*श्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥*' (२। १९४) कलियुगके उदाहरण तो भक्तमालमें भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी और चाण्डालकी कथा प्रसिद्ध ही है। (ख) '*चहुँ श्रुति*' इति। श्रुतियोंमें नामके प्रभावके प्रमाण ये हैं—(१) '**मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरिनामममनामहे। विप्रासो जातवेदसः।**' (ऋग्वेद ५। ८। ३५), (२) '**स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्समवादयिष्ठा नाम्न्यस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपासते नाम्न्यस्यात्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्।**' (ऋग्वेदान्तर्गत कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ४। ९) (३) '**न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।**' (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३), (४) '**स होवाच श्रीरामः कैवल्यमुक्तिरेकैवपारमार्थिकरूपिणी। दुराचाररतो वापि मन्नाम भजनात्कपे॥ १८॥ सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्।**' (यजुर्वेदान्तर्गत मुक्तिकोपनिषद् अ० १) (५) '**किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्रयद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मावर्पा अस्मदपगूह एवद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥**' (सामवेद अ० १७ खण्ड १) (६) '**सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्म विदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तँ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ ३॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति॥ ४॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ५॥**' (छान्दोग्योपनिषद् अ० ७ खण्ड १) (७) '**नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं सम्बभूव सहतत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥ ३१॥**' (अथर्ववेदसंहिता काण्ड १० सूक्त ७) (८) *श्रीराम उवाच*—'**अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते। स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम्।**' (अथर्ववेदान्तर्गत श्रीरामरहस्योपनिषद् अ० १) श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाशमें कुछ प्रमाण ये आये हैं—(९) अथर्वणोपनिषद् यथा—'**जपात्तेनैव देवतादर्शनं करोति कलौ नान्येषां भवति॥ यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत्तेन सह संवसेत्तेन सह सम्भुञ्जीयात्॥**' (१०) ऋग्वेदे यथा—'**ॐ परब्रह्म ज्योतिर्मयं नाम उपास्यं मुमुक्षुभिः।**' (११) यजुर्वेदे यथा—'**रामनामजपादेव मुक्तिर्भवति।**' (१२) सामवेदे यथा—'**ओमित्येकाक्षरं यस्मिन्प्रतिष्ठितं तन्नामध्येयं संसृतिपारमिच्छोः।**'

नोट—२ '*कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ*' इति। यथा—'**कलौ केवलं राजते रामनाम,**' '**हरेर्नामैव नामैव मम नामैव जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥**' (पाण्डवगीता ५३); '*सोइ भवतरु कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माँही॥*' (७। १०३; १। २७, ७) भी देखिये।

यदि '*कलि बिसेषि*' का अर्थ यह लें कि 'कलिमें नामका विशेष प्रभाव है' तो भाव यह होगा कि इस युगमें ध्यान, यज्ञ और पूजा है ही नहीं, कारण कि मन स्थिर नहीं रहता, वासनाओंसे सदा चञ्चल रहता है, बनियों-व्यापारियोंके पाप और अधर्मकी कमाईसे यज्ञ होते हैं, वनस्पति और चर्बी गोघृतकी

जगह होममें पड़ते हैं, पूजनके लिये चमड़े और रक्तसे भीगी हुई केसर मिलती है, शक्कर, घृत आदि सभी अपवित्र मिलते हैं। नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं, मन लगे या न लगे, जीभपर नाम चलता रहे, बस इसीसे सब कुछ हो जायगा। यह विशेषता है। उत्तरकाण्डमें जो कहा है कि *'कृत जुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥'* (७। १०२)।'''''' *कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।'''''' नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।'* वही भाव यहाँ *'कलि बिसेषि'* का है। अर्थात् और युगोंमें अन्य साधनोंके साथ नाम-जपसे जो फल होता था वह इस युगमें केवल नाम-जपसे ही प्राप्त हो जाता है, यह विशेषता है। *'नहिं आन उपाऊ'* का भाव यह है कि इस युगकी परिस्थिति जैसी है उसमें अन्य साधन हो नहीं सकते।

दो०—सकल कामना-हीन, जे राम-भगति-रस लीन। नाम-सुप्रेम[१] पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥ २२॥

शब्दार्थ—लीन=तन्मय, मग्न, डूबा हुआ, अनुरक्त। **'सुप्रेम'**=सुष्ठु, सुन्दर प्रेम। **'पियूष'** (पीयूष)=अमृत। **'ह्रद'**=कुण्ड।=अगाध जल, यथा—**'तत्रागाधजलोह्रदः'** (अमरकोश १। १०। २५)।

अर्थ—जो सब कामनाओंसे रहित हैं, श्रीरामभक्तिरसमें लीन हैं वे भी नामके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतके अगाध कुण्डमें अपने मनको मछली बनाये हुए हैं॥ २२॥

नोट—१ *'कामना हीन'* कहकर सूचित किया कि ऊपर कहे हुए चारों प्रकारके भक्त कामना-युक्त हैं। यह भक्त सकल-कामना-हीन है, इसे कुछ भी चाह नहीं, यह सहज ही स्नेही है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता (७। १६) में जो यह श्लोक है—**'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥'** इसमें चार भक्त स्पष्ट कहे हैं। श्रीमधुसूदनस्वामीजीके भाष्यके अनुसार इसमें **'च'** अक्षर जो अन्तमें दिया है वह पाँचवें भक्तका बोधक है। जैसे मधुसूदनीटीकाके अनुसार श्रीगीताजीमें चार भक्त स्पष्ट कहे गये और एक गुप्त रीतिसे, वैसे ही पूज्यपाद गोस्वामीजीने चारको स्पष्ट कहा और एकको गुप्त रीतिसे, इससे हमारे पूज्य कविकी चतुरता झलक रही है।

मधुसूदनीटीका देखनेपर मालूम हुआ कि **'च'** शब्दसे उन सबोंका भी ग्रहण 'ज्ञानी'—शब्दमें कर लिया गया जो इन चारोंमें न होनेपर भी भगवान्के निष्काम भक्त हैं; जैसे कि श्रीशबरीजी, गृध्रराज श्रीजटायु, श्रीनिषादराज और गोपिकाएँ आदि। इस तरहसे *'सकल कामना हीन जे''''''* ' ये **'च'** से ज्ञानियोंमें ही गिने जायँगे। यथा—**'तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः। निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते। ज्ञानी च। ज्ञानं भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी। तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः। चकारो यस्य कस्यापि निष्काम प्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः॥'** अर्थात् प्रथम तीन सकाम कहे गये, अब निष्काम कहा जाता है। भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारको ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञानसे जो नित्ययुक्त है वही ज्ञानी है। वह मायासे उत्तीर्ण हो चुका है और उसकी सब कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हैं। यहाँपर **'ज्ञानी च'** में जो **च** शब्द है वह जिस किसी निष्काम प्रेमी भक्तका ज्ञानियोंमें अन्तर्भाव करनेके लिये है। इस प्रकार भक्तोंकी संख्या गीताके भगवद्वाक्यानुसार चार-की-चार ही रह जाती है और *'राम भगत जग चारि प्रकारा'* तथा 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' से संगति भी हो जाती है। करुणासिन्धुजीका भी यही मत है कि इस दोहेमें भी 'ज्ञानी भक्त' का वर्णन है।

नोट—२ श्रीरामभक्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाती। इसके अनुसार ज्ञानी भक्त भी निष्काम भक्त हैं। परन्तु इस दोहेमें उन ज्ञानी भक्तोंको कहा गया है जिनमें पूर्ण परिपक्व भक्ति है, जिन्हें भक्तिकी वृद्धि या परिपक्वताके लिये साधन नहीं करना है। ये तो श्रीरामभक्तिरसमें सदा लीन ही हैं। श्रीसुदर्शनसिंहजी

१-प्रेम पीयूष—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। प्रेम पीयूष—को० रा०। सुप्रेम पीयूष—१६६१। (इसमें 'प्रेमपीयूष' था, चिह्न देकर 'सु' बढ़ाया गया है।)

लिखते हैं कि जब मनसे समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं और वह श्रीरामके प्रेमरसमें डूबता है तो नामके अमृतरसका उसे स्वाद मिलता है। कामना न होनेसे उसे कहीं जाना नहीं है। फलत: वह उस नामके सरोवरमें मीन बनकर निवास करता है। उस समय मनसे स्वत: जप होता रहता है। मानसिक जपकी इस सहजावस्थाका इस दोहेमें निदर्शन किया गया है। इसी सहज जपमें नामकी साधना समाप्त होती है। अतएव नामकी साधनरूपताका वर्णन भी यहीं समाप्त हुआ है।

'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।······रस लीन' इति।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि (१) 'ब्रह्मसुखके ज्ञानमात्रसे आनन्द होता है क्योंकि वह स्थूल वस्तु नहीं है। (२) वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहोंसे भिन्न अणु-परिमाण है।······(३) वह प्राकृत विकार क्षीणपीनादि आमयों (रोगों) से रहित है। (४) इस आत्मसुखके समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है।'

यहाँपर (१) और (२) का विषय किसीके मतका अनुवाद या पूर्वपक्षके रूपमें ही कहा गया जान पड़ता है, क्योंकि सुख स्वप्रकाश है। जैसे रातमें पदार्थोंको देखनेके लिये दीपककी आवश्यकता पड़ती है परन्तु दीपकको देखनेके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ज्ञान और सुखका अनुभव करनेके लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, वे स्वप्रकाश होनेसे स्वयं अनुभवमें आते हैं। जो ब्रह्मको सुखस्वरूप ही मानते हैं (जैसे कि अद्वैती आदि) उनके मतानुसार ब्रह्म अप्रमेय होनेसे उसको अणु-परिमाण नहीं कहा जा सकता। जो सुखको गुण मानते हैं (जैसे कि नैयायिक आदि) उनके मतसे भी उसको अणु-परिमाण नहीं कह सकते क्योंकि परिमाण गुण है और गुण गुणका आश्रित नहीं होता। जो सुखको द्रव्य मानते हैं, उनके मतसे जीव अणु होनेसे उसके सुखको अणु-परिमाण कह सकते हैं। परन्तु जिस परब्रह्मको आनन्दसिन्धु सुखराशि कहा जाता है उस ब्रह्मसुखको अणु-परिमाण कैसे कहा जायगा? अत: उपर्युक्त कथन (१) और (२) को परमतका अनुवाद या पूर्वपक्ष कहा गया। नम्बर (३) में धर्मी और धर्ममें अभेद मानकर ही प्रयोग किया गया है। अर्थात् क्षीणसे क्षीणत्व तथा पीनसे पीनत्वका ग्रहण करनेसे कोई आपत्ति नहीं आती। नं० (४) में यद्यपि आत्मा शब्दसे प्राय: जीवात्माका ही ग्रहण होता है पर यहाँ आत्मसुखसे परमात्मसुख ही लक्षित है, क्योंकि यहाँ ब्रह्मसुखका ही प्रतिपादन हो रहा है।

पं० श्रीकान्तशरणजीके मतानुसार यहाँ 'योगी' शब्दसे गीतोक्त चार प्रकारके भक्तोंसे अलग 'निर्गुणमतरूपी रुक्ष ज्ञान' वाले तथा 'निष्कामकर्मयोग' वाले अथवा जिज्ञासु अभिप्रेत हैं। उनका मत है कि यहाँ जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त भक्तोंका वर्णन करके तब ज्ञानीको अति प्रिय कहा और तत्पश्चात् *'सकल कामना-हीन जे······'* से उस ज्ञानीका वर्णन किया इत्यादि।

परन्तु इसमें यह शंका उठती है कि, 'जो नाम-जपद्वारा वैराग्यपूर्वक ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, उसको 'रुक्ष ज्ञानवाले कर्मयोगी' कहना उचित होगा?' तथा, 'इनको यथा—कथञ्चित् जिज्ञासुका अंग माननेसे जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त इन तीनका ही कथन करके *'राम भगत जग चारि प्रकारा'* कैसे कह सकेंगे ? चौथेका उल्लेख ही नहीं हुआ तब *'चारि प्रकारा,'* कहना कैसे सङ्गत होगा ?' (क्योंकि 'जगमें चार प्रकारके भक्त हैं ऐसा कहते ही प्रश्न उठता है कि 'चौथा कौन है ?' और फिर 'ज्ञानी विशेष प्रिय है' इसको सुनते ही शंका होगी कि यह ज्ञानी कौन है और क्यों प्रिय है ?)'

आगे *'सकल कामना-हीन जे······'* के *'जे'* से 'ज्ञानी भक्तका संकेत' उन्होंने माना है। परन्तु ऐसा मानना कहाँतक ठीक होगा? क्योंकि बीचमें *'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ······'* यह चौपाई पड़ी है, तथा *'सकल कामना-हीन जे······'* इस दोहेमें 'ज्ञानी' का संकेत करनेवाला कोई शब्द नहीं है। हाँ, निष्काम प्रेमीभक्त आ सकता है।

इसकी अपेक्षा प्रसङ्गकी संगति इस प्रकार लगाना ठीक होगा कि यहाँ नामका महत्त्व प्रतिपादन कविका मुख्य उद्देश्य है। साथ-ही-साथ सबको नामजपका उत्साह दिलाना है, नाममें प्रवृत्त करना है।

नामस्मरण निष्काम प्रेमीभक्तोंका तो प्राणाधार ही है, सर्वस्व है, जीवन है; परन्तु अर्थार्थी और आर्त्त तथा जिज्ञासु और ज्ञानी, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंवाले, सभी लोग नामके जपसे अपना-अपना साध्य प्राप्त करते हैं। इनमेंसे प्रथम तीन तो सकाम होनेसे अपने स्वार्थ-साधनके लिये नामका जप करेंगे, इसमें कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु वैराग्यपूर्वक प्रपञ्चको छोड़कर नामरूपातीत उस अनिर्वचनीय ब्रह्मसुखमें निमग्न रहनेवाले ज्ञानी भी नाम-जपद्वारा ही उस ब्रह्मसुखका अनुभव करते आये हैं, इससे बढ़कर नामका महत्त्व क्या कहा जा सकता है?

इस प्रसङ्गमें शाब्दिक प्रयोग भी बड़ी चतुरतासे किया गया है। यहाँ 'योगी' शब्दसे ज्ञानयोगीका ग्रहण है, क्योंकि नाम-जपद्वारा नामरूपातीत अकथनीय ब्रह्मसुखका अनुभव लेना यहाँ कहा गया है और यह अनुभव ज्ञानी भक्तके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता।—**'योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्।'** श्रीश्रीधरस्वामीजीने **'योगिनाम्'** का अर्थ 'ज्ञानिनाम्' किया है। दोहा २६ (१-२) देखिये। अतएव यहाँ ज्ञानी भक्तका ही वर्णन है।

यहाँ 'ज्ञानी' शब्द न देकर 'योगी' शब्द देनेमें अभिप्राय यह है 'योगी' से 'ज्ञानयोगी और भक्तयोगी वा प्रेमयोगी दोनोंका ग्रहण हो सके। प्रारम्भमें ***'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं'*** यह ज्ञानी भक्तका विशेष लक्षण दिया और बीचमें ***'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा'*** कहकर गीताके 'ज्ञानी **त्वात्मैव मे मतम्**' इन शब्दोंका अपना अभिमत अर्थ सूचित किया और अन्तमें ***'सकल कामना-हीन जे······'*** से प्रेमयोगीके विशेष लक्षण देकर अत्यन्त प्रिय तथा इसी प्रसङ्गमें इनका भी ग्रहण दिखाया। पं० श्रीरामकुमारजीने जो लिखा है 'एकको गुप्त कहा' उसका तात्पर्य सम्भवतः यही है।

'योगी' के पश्चात् जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्तका वर्णन करके इन चारोंको सुकृती, अनघ और उदार आदि कहकर सर्वप्रथम कहे हुए ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। श्रीरामजीके नामका ही आधार लिया है, अन्य साधन वा अन्य देवोंके नामका आश्रय दुःख मिटाने आदिमें भी नहीं लिया, इसीसे चारोंको चतुर कहा। ***'चहूँ'*** कहकर पूर्व ही चारों भक्तोंका कथन इङ्गित कर दिया गया। ***'नाम अधारा'*** यह ***'चतुर'*** कहनेका कारण बताया। ज्ञानी होकर भी भक्ति करना यह ज्ञानियोंकी चतुरता है। जो भक्ति नहीं करते उनको गिरनेका भय रहता है। यथा—***'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।'*** (७। १३) ***'मोरे प्रौढ़···तजहीं।'*** (३। ४३) यही ज्ञानियोंकी चतुरता है। चारों भक्तोंको कहकर आगे प्रमाणमें कहते हैं—***'चहुँ जुग···बिसोका॥' 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी॥'*** (२१। ८) और आगेके ***'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'*** (२३। १) के बीचवाले दोहे और आठ चौपाइयाँ प्रसङ्गसे कुछ अलग-सी जान पड़ती हैं। परन्तु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि असङ्गति नहीं है, केवल अन्य विषयका साथ-ही-साथ प्रतिपादन होनेसे वह असङ्गत-सा जान पड़ता है। पहले नामको अगुण-सगुणके बीचमें साक्षीरूपसे कहा, फिर यह कहा कि भीतर सूक्ष्म सच्चिदानन्दरूपसे तथा बाहर विश्वरूपसे अथवा सगुण विग्रहरूपसे यदि दर्शन करना चाहते हो तो नाम जपो। दृष्टान्तरूपमें ज्ञानीभक्तका निर्देश किया, क्योंकि ज्ञानी भक्त ही अव्यक्त और व्यक्त स्वरूपका अनुभव करनेवाला होता है। साथ ही अन्य भक्तोंका निर्देश करके चारोंको चतुर और उनमेंसे ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा, उसका कारण दोहेमें बताकर इस विषयको यहाँ समाप्त किया और पूर्वोक्त अगुण-सगुणके प्रसङ्गकी जो बातें रह गयी थीं उनका कहना प्रारम्भ किया।

अथवा, इन सब प्रसङ्गोंकी पृथक्-पृथक् सङ्गति कर सकते हैं। इस प्रकार कि—***'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।'*** (२१। ८)। पर एक प्रसङ्ग समाप्त हो गया। ***'रामनाम मनिदीप धरु······'*** यह दूसरा प्रसङ्ग है। फिर ***'नाम जीह जपि जागहिं जोगी'*** से लेकर ***'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ'*** तक तीसरा प्रसङ्ग है। इस प्रसंगमें गीतामेंके स्पष्टरूपसे चार भक्तोंकी चर्चा करके तब चौथे प्रसङ्गमें ***'सकल कामना-हीन···'*** से प्रेमी भक्तका भी नाममें ही निमग्न रहना कहा।

नोट—३ (क) यहाँ 'श्रीरामभक्ति'को 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'अमृतकुण्ड' कहकर श्रीरामभक्तिमें नामप्रेमको सर्वोपरि बताया। जलको और गुड़, शक्कर, ओले, संतरे आदिके रसको भी रस ही कहते हैं। इनमें स्वाद तो होता है पर संतोष नहीं होता। अमृतमें स्वाद और संतोष दोनों हैं। इसे पीकर फिर किसी पदार्थके खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती। २० (७) देखिये। अमृतको किसी रसके समान नहीं कह सकते। यथा—*'राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा॥ पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।'* (लं० २६)। वैसे ही रामभक्ति रसके समान है और नामप्रेम अमृतकुण्डके समान है। (ख) *'पियूष-ह्रद'* कहनेका भाव यह है कि अगाध जलके कुण्डमें मीन सुखी तो रहती हैं पर कभी-न-कभी मर ही जाती हैं और नामजापक जन सदा अमर हैं। अतएव उनके मन-मीनके लिये अमृतकुण्ड कहा। (ग) पं० शिवलाल पाठकजी इस दोहेका भाव यों कहते हैं—*'रामरूप रस भक्ति को रघुबर को रस नाम। नाम प्रेम रस नाम को तहँ मन रमु निःकाम॥'* जिसका भाव यह है कि 'भक्तिका फल रामरूपकी प्राप्ति है और रूपसे नामकी। अतः नाम सबसे श्रेष्ठ है। उस प्रेममें कामनारहित मग्न रहना कर्तव्य है। ध्वनि यह है कि जो भक्तिवश रामपदमें लीन हैं उनको भी नाम ही आधार है।' (घ) पं० श्रीशिवलाल पाठकजी 'पीयूष' का अर्थ जल करते हैं क्योंकि मछलीका जीवन जल ही प्रायः सुननेमें आता है न कि अमृत। उनके मतानुसार नाम-प्रेम जल है, जिह्वा कुण्ड है, यथा—*'नाम प्रेम जल जीह ह्रद चार भक्तिरस राम। तजि जेष्ठा युगधा सदा मन सफरी करु धाम॥'* (अभिप्राय दीपक)। मा० मा०कार इसका भाव यह लिखते हैं कि 'जैसे मीन जलमें रहता है परन्तु केवल जल उसका जीवन है। चारा तो और वस्तु है, वैसे ही मन-मछली रसना-ह्रदमें नाम-प्रेम-जलमें मग्न रहती है और सर्व सांसारिक आकांक्षा-रहित होकर रामभक्तिरस चारामें लीन हो रही है।'

नोट—४ चार भक्तोंको तो 'प्यारा' कहा था और इस भक्तको यह विशेषण न दिया इसका कारण यह जान पड़ता है कि इनकी विशेष-उत्कृष्टता और अधिक प्रिय होना इनमें अधिक श्रेष्ठ गुण दिखाकर ही सूचित कर दिया है। ज्ञानीको ब्रह्मसुखभोगहीकी चाह है और प्रेमी भक्त (जिनका दोहेमें वर्णन है वे) तो भरतजी-सरीखे स्वार्थ-परमार्थ सभीपर लात मारे हुए हैं। इन्हें न तो ब्रह्मसुखकी चाह है न सिद्धियोंकी, न अर्थकी कामना और न आर्ति मिटनेकी वासना। अर्थात् ये स्वार्थ-परमार्थ दोनोंसे रहित होकर भक्ति करते हैं; नाम जपते हैं। *'स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को……'* (दोहावली) पुनः, *'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह॥'* (अ० १३१) यह प्रेमीकी दशा है। इनके प्रियत्वके सम्बन्धमें श्रीमुखवचनामृत ही प्रमाण यथेष्ट है, यथा—*'ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी॥ तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥'* (उ० ८६) *'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥'* (आ० ४३)

नोट—५ अब यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'ब्रह्मसुख तो अति दुर्लभ और अलभ्य वस्तु है फिर प्रेमी भक्त उसे क्यों नहीं भोगना चाहते?' इसका कारण यह है कि ज्ञानीके ब्रह्मसुखको प्रेमी तुच्छ समझते हैं, उसकी ओर देखते भी नहीं, यथा—*'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥'* (उ० ८८)। पुनः, यथा—*'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥'* (उ० ६)।

नोट—६ कामना हीन होनेपर भी प्रभुके नाम और भक्तिमें लीन रहते हैं, यह इसलिये कि फिर और कामनाएँ न उठने पावें। (पं० रा० कु०) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि श्रीरामभक्तिरसमें निमग्नता प्राप्त होनेपर भी नामकी आवश्यकता और उसके विस्मरणमें मछलीके समान व्याकुलता होनेका समाधान **'नाम सुप्रेम पियूष ह्रद'** शब्दोंमें कविने स्वयं कर दिया है। नाममें यदि सुप्रेम (प्रगाढ़ प्रेम) हो तो वह अमृतकुण्ड हो जाता है, श्रीरामभक्तिरसलीन भक्तोंका जब नाममें प्रगाढ़ प्रेम हो गया तो उनको इतना आनन्द आता है कि नाम उनके लिये अमृतकुण्ड हो जाता है। अमृतका गुण है कि उससे तृप्ति कभी

नहीं होती। उत्तरोत्तर सेवनेच्छा बढ़ती ही जाती है और ऐसी दशामें उससे पृथक् होनेमें तीव्र व्याकुलता होती है। विदित हो कि भगवत्सम्बन्धी कामनाएँ वे कामनाएँ नहीं हैं, जिनके छोड़नेकी आज्ञा, जन्ममृत्युसे निवृत्तिके लिये दी जाती है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रीमद्भगवद्गीता अ० १२ में यह उपदेश भगवान् न देते कि **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥' 'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥'** (८, १०)

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥ १॥

अर्थ—ब्रह्मके निर्गुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त) दो स्वरूप हैं। (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय) हैं, अगाध (अथाह) हैं, सनातन और उपमारहित हैं॥ १॥

* अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा *

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'अन्तरात्मा, चिदानन्दमय, प्रकाशक, अमूर्ति सद्‌गुणराशि' अगुण है। सगुण स्वरूपके दो भेद हैं—एक चित्स्वरूप, जैसे ईश्वर-जीव-गुण-ज्ञान। दूसरा अचित्-स्वरूप जिसके दो भेद हैं—एक प्राकृत, दूसरा अप्राकृत। अप्राकृतके भी दो भेद हैं—एक नित्यविभूति वैकुण्ठादि, दूसरा अप्राकृत कालरूप जैसे कि दण्ड, पल, दिन, रात, युग, कल्प आदि।' वे० भू० जी लिखते हैं कि परमात्माके पर, व्यूह, विभव और अर्चा ये चारों रूप तो सदैव सगुण ही हैं। अन्तर्यामीस्वरूपके ही दो भेद हैं। गोस्वामीजीका अभिप्राय यहाँ अन्तर्यामीके ही कथनका है, क्योंकि इस अगुण-प्रकरणका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि *'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* इन दोनों स्वरूपोंका वर्णन इसी ग्रन्थमें अन्यत्र मिलता है। यथा—*'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* इसमें एकरस सबमें साक्षीरूपसे व्यापकको अगुण-स्वरूप कहा जाता है, यथा—**'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति श्रुतिः।'** और भक्तोंके हृदयमें अति कमनीय सच्चिदानन्दघन विग्रहसे विराजमान विग्रहको सगुण-स्वरूप कहा जाता है। काष्ठमें अप्रकट अग्निवत् जो सर्वत्र व्यापक-स्वरूप रहता है उसे 'अमूर्त अन्तर्यामी' कहते हैं और जो भगवत्-स्वरूप भक्तोंके ध्यानमें आता है, भक्तोंकी रक्षाके लिये हृदय-प्रदेशमें किसी विग्रहविशेषसे स्थित रहकर भक्तका रक्षण करता रहता है वह स्वरूप 'मूर्त अन्तर्यामी' कहाता है। जैसे **'अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः। स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे॥'**(भा० १। ८। १४) सर्वान्तर्यामी योगेश्वर हरिने अपनी कृपासे उत्तराके गर्भकी रक्षा की। उस स्वरूपका वर्णन भा० १। १२ में इस प्रकार है। गर्भके बालक (परीक्षित्‌जी) ने देखा कि एक पुरुष जिसका परिमाण केवल अङ्गुष्ठमात्र है, स्वरूप निर्मल है, सिरपर स्वर्णका चमचमाता हुआ मुकुट है, सुन्दर श्याम शरीरपर पीताम्बर धारण किये हैं, आजानुलम्बित चार भुजाएँ हैं, बारम्बार गदा घुमा रहा है, इत्यादि। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजको नष्ट करके वह सर्वव्यापक सर्वैश्वर्यशाली धर्मरक्षक सर्वसामर्थ्यमान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये। (श्लोक ७—११)—इसी तरह मूर्त अन्तर्यामी अपने भक्तोंकी भावनानुसार उनके हृदयमें रहते हैं। *'अंतरजामी राम सिय'* मानसमें भी कहा ही है।

स्वामी श्रीराघवाचार्यजी लिखते हैं कि मानसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होता है कि मानसका सिद्धान्त यह है कि परब्रह्म राम सगुण एवं निर्गुण हैं। उनमें सगुणरूपमें भी उसी प्रकार पारमार्थिकता है जिस प्रकार उनके निर्गुणरूपमें। इन दोनों स्वरूपोंकी रूपरेखाको हृदयङ्गम करनेके लिये श्रीयामुनाचार्यजीका श्लोक पर्याप्त होगा—**'शान्तानन्तमहाविभूति परमं यद्ब्रह्मरूपं हरेर्मूर्तं ब्रह्म ततोऽपि यत्प्रियतरं रूपं यदत्यद्भुतम्।'** इससे प्रकट होता है कि परब्रह्मका एक रूप शान्त, अनन्त एवं महाविभूतिवाला है और दूसरा रूप जो इस रूपकी अपेक्षा अधिक प्रिय किन्तु साथ ही अधिक अद्भुत है वह मूर्तरूप है। पाञ्चरात्र-आगमने भगवान्‌के पञ्चरूप बताये हैं। वे हैं पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। उनमेंसे पररूपके ही महाविभूतिवाला रूप तथा मूर्तरूप दो भेद किये गये हैं। महाविभूतिवाला रूप शान्त है, अनन्त है और मूर्त नहीं है।

शान्त-अवस्थामें प्रदर्शनकी आवश्यकता न पड़नेसे गुणोंका प्रदर्शन नहीं होता। जहाँ इन गुणोंके प्रदर्शनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, महाविभूतिवाला अमूर्तरूप मूर्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस मूर्तरूपकी सनातन सत्तामें कभी किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। अमूर्तरूपमें सौलभ्य, सौशील्य, कारुण्य, वात्सल्य आदि गुणोंका साक्षात्कार न होनेके कारण गोस्वामीजीने उस रूपको निर्गुण कहकर सम्बोधित किया है। मूर्तरूपमें इन गुणोंका प्रयोग मिलता है, अतः गोस्वामीजी उसे सगुण कहते हैं। मानस मूर्तरूप और अमूर्तरूपकी सत्तामें किसी प्रकारका भेद नहीं मानता। *'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।'* दोनों ही स्वरूप अनादि हैं। किंतु दोनोंकी अनुभूतिमें पर्याप्त अन्तर है।""श्रीरामके मानसप्रोक्त सगुण एवं निर्गुणरूपमें वस्तुतः अभेद है। इसीलिये उनके निर्गुणरूपके अनुभवसे सगुणरूपका साक्षात्कार और सगुणरूपमें निर्गुणरूपका अनुभव होता है। निर्गुणरूप महाविभूति संयुक्त है, सगुणरूप दयाका विस्तार है। वह वाणी और मनके लिये अगम्य है, यह वाणी और मनको आकर्षित करता है। रामचरितमानस श्रीरामजीके दोनों ही रूपोंमें स्थित व्यक्तित्वके साथ साधकका नाता जोड़ देता है। मानसकी यह ऐसी विशेषता है जिसमें निगुर्णवाद और सगुणवादका सामरस्य हो जाता है।

नोट—गोस्वामीजीने *'अगुन'* और *'सगुन'* से ब्रह्मके 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' ये दो स्वरूप कहे हैं जैसा हम पूर्व भी लिख चुके हैं। प्रमाण, यथा—*'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अब्यक्त जेहिं श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप।'* (६। ११२), **'व्यक्तमव्यक्त गत भेद विष्णो।'** (विनय० ५४)। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भी निर्गुणको अव्यक्त और सगुणको व्यक्त कहा है; यथा—**'व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः।'**(२४२। ७४)

नोट—१ अकथ, अगाध आदि विशेषण *'अगुन सगुन'* दोनोंके हैं। निर्गुणमें तो ये विशेषण प्रसिद्ध हैं ही, सगुणके प्रमाण सुनिये—(क) *'अकथ'*; यथा—*'राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर। अबिगत अकथ अपार—।'* (अ० १२६) *'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा।'* (बा० १९९) **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'** (तै० ३। २। ४) (ख) *'अगाध'*; यथा—*'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥""प्रभु अगाध सत कोटि पताला।""राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।'* (७। ९१। ९२) (ग) *'अनादि'*; यथा—*'आदि अंत कोउ जासु न पावा।"" सोइ दसरथसुत""'* (११८)। (घ) *'अनूपा'*; यथा—*'अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई॥'* (१९३), *'जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने।'* (७। १३) *'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहैं।'* (७। ९२)

नोट—२ श्रीचक्रजी लिखते हैं कि—(क) मानस ब्रह्मके समग्ररूपको स्वीकार करता है। ब्रह्मका समग्ररूप है, उसके दोनों स्वरूपोंमें कोई भेद नहीं। दोनों एक ही तत्त्व और अभिन्न हैं। *'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना'* इस प्रकार सगुण-साकार विग्रह भी विभु एवं निर्गुण है और *'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होइ मैं जाना॥'* इस प्रकार निर्गुण तत्त्व भी सगुण ही है। दोनोंका भेद तो मानवके दुर्बल मानसकी कल्पना है। अतः दोनोंको *'अकथ'* कहा गया। मन और वाणी त्रिगुणात्मक हैं, उनका वर्णन गुणोंके आधारसे होता है। तब निर्गुणका वर्णन कैसे हो? सगुण-तत्त्व भी वाणीमें नहीं आता। *'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।'* वाणी एवं मनकी एक सीमित शक्ति है, किन्तु वे गुणधाम तो अनन्त हैं। कोई लोटेमें समुद्र भरना चाहे तो कैसे भर सकता है ? लोटेमें जो भरा जायगा वह समुद्रका जल भले हो, समुद्र नहीं है। उससे समुद्रकी वास्तविकताका परिचय नहीं मिलता। इसी प्रकार मन या वाणीमें भगवान्‌का जो दिव्यरूप एवं जो गुण आता है, वह उनका गुण या रूप होनेपर भी उनके चिन्मयरूप एवं अनन्त दिव्य गुणोंका तनिक भी परिचय देनेमें समर्थ नहीं। (ख) *'अनादि'* कहकर जनाया कि सगुणरूप मायावच्छिन्न या कल्पनाप्रसूत नहीं है। ऐसी बात नहीं कि भक्तकी भावनाके अनुसार भगवान्‌ने रूप धारण कर लिया है, उस भावनासे पूर्व वह रूप था ही नहीं। भगवान्‌का एक सगुण स्वरूप है जो अनादि है। उसीके अनुसार मानस-स्तर है और इसीलिये भक्त वह भावना कर सका है। जो रूप भगवान्‌का नहीं है, उसका तो मन संकल्प

ही नहीं कर सकता। क्योंकि मन संकल्प स्वयं नहीं करता, केवल मानस-स्तरोंके संकल्पोंको ग्रहण करके व्यक्त करता है। जैसे रेडियो-यन्त्र स्वयं कुछ नहीं बोलता। वह अमुक स्तरमें पहुँचाये हुए स्तरकी ध्वनियोंको केवल व्यक्त करता है। (ग) दोनों रूप अनुपम हैं। जगत् मायाके गुणोंका परिणाम है और भगवान्‌के गुण अमायिक हैं। अतः जगत्‌की कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

नोट—३ ***'अकथ'*** आदि कहकर जनाया कि निर्गुण और सगुण दोनों रूप प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान इन तीनों प्रमाणोंसे नहीं जाने जा सकते। ***'अकथ'*** से वाणी आदि इन्द्रियोंका निषेध करके प्रत्यक्षका अविषय, ***'अगाध'*** से मनके द्वारा अचिन्त्य कहकर अनुमानका अविषय और ***'अनादि'*** कहकर उनकी निर्विकल्पसत्ताका प्रतिपादन करते हुए ***'अनूप'*** कहकर उन्हें उपमानका भी अविषय बताया गया है। उनकी सत्ता एवं स्वरूपबोधमें केवल शब्द (शास्त्र) ही प्रमाण है। इन विशेषणोंसे सूचित किया कि ऐसे प्रभावशालीसे भी नाम बड़ा है। नामद्वारा दोनोंकी प्राप्ति हो जाती है।

नोट—४ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ऊपर दोहेतक चार भक्तोंके द्वारा भीतर-बाहरका उजाला दिखाया। अब फिर अगुण-सगुणसे उठाया। पूर्व अगुण-सगुणका प्रसङ्ग ***'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।''''''*** इस चौपाईपर छोड़ दिया था, बीचमें भीतर-बाहर उजालेका उदाहरण दिया, अब पुनः अगुण-सगुणका प्रसङ्ग उठाकर नामको इनसे बड़ा कहते हैं। (ख) मानस-परिचारिकाकार लिखते हैं कि ***'नाम रूप गुन अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी॥'*** तक नामका स्थूल स्वरूप कहकर फिर ग्रन्थकार ***'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।''''''*** से अंग कहने लगे। नामके अधीन अगुण-सगुण दोनों हैं। यह स्थूल अंग कहते समय आपने देखा कि आर्त, अर्थार्थी इत्यादि पाँचोंका भी नाम ही आधार है सो ये भी नामके अंग हैं, इसलिये अगुण-सगुणका बीज वहाँ बोकर पाँचों भक्तोंकी नामाधार-वृत्तिका वर्णन उठाया और अब यहाँसे विस्तारपूर्वक अगुण-सगुणका प्रसङ्ग फिर ले चले। (ग) यहाँसे अब चतुर्थ प्रकारसे नामकी बड़ाई दिखाते हैं। अर्थात् निर्गुण-सगुण दोनोंसे बड़ा कहकर नामका बड़प्पन दिखाते हैं।

मोरें[1] मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहि जुग निज बस निज बूतें॥ २॥

अर्थ—मेरी सम्मति (राय) में नाम (निर्गुण-सगुण) दोनों (ब्रह्म) से बड़ा है कि जिसने दोनोंको अपने बलसे अपने वशमें कर रखा है॥ २॥

नोट—१ (क) ***'मोरें'*** मत कहकर बताते हैं कि यह मेरा मत है (दूसरोंके मतमें जो चाहे हो क्योंकि यह सामर्थ्य नामहीमें है कि उसने दोनोंको अपने अधीन कर रखा है। इसी बातको आगे और स्पष्ट कहते हैं—***'कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।'*** पुनः, (ख) ***'मोरें मत'*** का भाव कि दोनों स्वरूपोंकी उपलब्धिमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्र कहते हैं कि नामद्वारा दोनोंकी प्राप्ति होती है। इस तरह शास्त्रोंका फलितार्थ तो यह निकलता है कि नाम दोनोंसे बड़ा है, किन्तु शास्त्र कहीं भी यह बात स्पष्ट कहते नहीं। अतएव मानसकार इसे अपनी सम्मति कहते हैं। उनका अनुरोध है, आग्रह नहीं कि आप भी इसे ऐसा ही स्वीकार कर लें—पर यह एक सम्मति है।

नोट—२ ***'निज बस निज बूतें'*** इति। (क) ***'निज बूतें'*** का भाव यह है कि श्रुतियोंके समान प्रार्थना करके नहीं, किन्तु अपने पराक्रमसे वश कर रखा है। कथनका तात्पर्य यह है कि नामके बलसे भक्त भीतर-बाहर दोनों ब्रह्म (स्वरूपों) को देखते हैं। (पं० रामकुमारजी) जैसे मनु-शतरूपाने निर्गुण ब्रह्मके लिये नामजपसे ही तप प्रारम्भ किया, यथा—***'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'*** उससे निर्गुण ब्रह्म वशमें हुए, तब ब्रह्मगिरा हुई और फिर वे ही सगुण रूपसे प्रकट हुए। पं० सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि जैसे 'राम' इसमें जो रा और म अक्षर हैं उनसे दशरथापत्य साकार ब्रह्मका बोध होता है, रामका जो अर्थ सर्वत्र **'रमन्ते इति रामः'** है इससे निराकार ब्रह्मका भी बोध होता है। यदि नाम न होता तो साकार और

१. हमरे—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। मोरें-१६६१, १७०४, को० रा०।

निराकारको कोई जानता भी नहीं। दोनोंका बोधक केवल नाम ही है। (मानसपत्रिका) पुनः, (ख) भाव कि जो *'अकथ अगाध अनादि अनूपा'* ऐसे बलवान् ब्रह्मको वश कर रखे हैं, उसमें अवश्य बहुत अधिक बलबूता होगा। (ग) पूर्वार्द्धमें अपने मतानुसार नामको दोनोंसे बड़ा कहकर उत्तरार्द्धमें उसका (अपनी सम्मति स्थिर करनेका) कारण कहा। *'निज बूतें'* से स्पष्ट कर दिया कि नाम निरपेक्ष साधन है, उसमें किसी भी दूसरे साधनकी सहायता अपेक्षित नहीं है। केवल नाम लेना ही पर्याप्त है।

नोट—३ (क) पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ग्रन्थकारका मत बहुत सत्य जान पड़ता है, क्योंकि जिसके वश जो हो जाय वह वशकर्त्ता बड़ा और वशीभूत छोटा कहा जाता है। नामके अधीन निर्गुण और सगुण दोनों सर्वत्र शास्त्रादिकोंमें प्रसिद्ध हैं। इसलिये स्पष्ट है कि दोनोंसे नाम बड़ा है।' (ख) पाण्डवगीतामें भृगुजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा, **'नामैव तव गोविन्द नाम त्वत्तः शताधिकम्। ददात्युच्चारणान्मुक्तिं भवानष्टाङ्गयोगतः॥'**(५९) अर्थात् हे गोविन्द! आपका नाम आपसे सौ गुना अधिक है। आप तो अष्टाङ्गयोगसे मुक्ति देते हैं और आपका नाम केवल स्मरणसे मुक्ति देता है।

प्रौढ़[२] सुजन जन जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥ ३॥

अर्थ—प्रौढ़ सज्जनलोग मुझ जन (के मन) की जानते हैं (वा जान लेंगे) (कि) मैं अपने मनकी प्रतीति, प्रीति और रुचि कह रहा हूँ॥ ३॥

नोट—१ *'प्रौढ़ सुजन जन……'* इति। (क) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि 'यदि कोई कहे कि क्या 'व्यास, वाल्मीकि, अगस्त्य, जैमिनि, शाण्डिल्य, गौतम, पराशर आदिसे तुम्हारा न्यारा मत है?' तो उसपर कहते हैं कि नहीं। प्रौढ़ सुजन जन व्यासादि मुझ जनकी जानते हैं। मैं जो अपने मनकी प्रतीति, प्रीति, रुचि कह रहा हूँ वह सभी प्रवीणोंका मत है यह वह जानते हैं।' (मा० प्र०) जो शास्त्रों एवं सज्जनोंके वाक्योंका फलितार्थ है वही मैंने स्पष्ट कह दिया, यह वे जान लेंगे। (ख) गोस्वामीजी नामका प्रभाव जानते हैं; इसीलिये उन्होंने 'प्रतीति' पद दिया है; क्योंकि *'जाने बिनु न होइ परतीती'* और, प्रतीति होनेसे 'प्रीति' होती है यथा—*'बिनु परतीति होइ नहि प्रीती।'* (७। ८९) प्रतीति और प्रीतिसे रुचि बढ़ती है। (पं० रामकुमारजी)

नोट—२ गोस्वामीजीने यहाँ अपनी दीनता प्रकट की है। कपिल, व्यास, जैमिनिका मत नहीं दिखलाया है। वे कहते हैं कि अच्छे लोग यह न समझें कि मैं हठ करके (वा बढ़ाकर) इस बातको कहता हूँ, मैं तो अपने मनकी जो प्रतीतिसे प्रीति और प्रारब्धकर्मसे रुचि हुई है इन्हीं कारणोंसे नामको बड़ा मानता हूँ। प्रतीतिका कारण श्रुति है—**'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम।'** प्रीतिका कारण बड़ोंका उपदेश है। (मानसपत्रिका, रा० प्र०, सू० प्र० मिश्र)

नोट—३ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने प्रीति, प्रतीति और रुचि आगेकी चौपाइयोंमें दिखायी है। अर्थात् *'एक दारु गत देखिअ एकू।'* से *'राजा राम अवध रजधानी'* तक प्रतीतिका हेतु दिखाया। पुनः, *'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।'* से *'अपत अजामिल गज गनिकाऊ'* तक प्रीतिका हेतु दिया और *'कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई'* से *'भाय कुभाय अनख आलसहू'* तक मनकी रुचि दिखायी।

---

२. प्रौढ़ि सुजन जनि—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, रा० प०, गौड़जी। प्रौढ़ सुजन जनि-ना० प्र०, सु० द्विवेदी। प्रौढ़ सुजन जन—मा० प्र०, १६६१। १६६१ में पहले 'प्रौढ़ि सुजन जनि' था। हरताल देकर 'प्रौढ़ सुजन जन' पाठ शुद्ध किया गया है।

प्रौढ़ि=ढिठाई=प्रौढ़ोक्ति (अलङ्कार जो काव्यका एक अङ्ग है, जिसमें कवि अपनी बुद्धिकी चतुरतासे बातको बहुत बढ़ाकर कह डालते हैं)। सन्तउन्मनी टीकाकार मङ्गलकोषका प्रमाण देकर 'प्रौढ़ि' और 'प्रौढ़' का अर्थ यों लिखते हैं—'प्रौढ़ि'=अभिमानसे बात कहना। 'प्रौढ़'=चालाक विद्वानोंकी सभाका=सभा-प्रवीण। शब्दसागरमें 'प्रौढ़' का अर्थ 'ढीठ, चतुर, अच्छी तरह बढ़ा हुआ' लिखा है।

एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग-ब्रह्म-बिबेकू॥ ४॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥ ५॥

अर्थ—एक (अग्नि) जो लकड़ीके भीतर रहता है और दूसरा जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है उन दोनों अग्नियोंके समान [अगुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त)] दोनों ब्रह्मका विचार है॥ ४॥ दोनों कठिन हैं, परन्तु दोनों नामके अभ्याससे सुगम हैं, इसीसे मैंने नामको ब्रह्म (अगुण, अव्यक्त) और राम (सगुण, व्यक्त) से बड़ा कहा॥ ५॥

टिप्पणी—'*एक दारु गत देखिअ एकू।*......' इति। (क) पहले ब्रह्मके दो स्वरूप कहे, अब दोनोंका विवेक कहते हैं कि वास्तवमें दोनों अग्नि एक ही हैं, भेद केवल इतना है कि एक गुप्त है, दूसरा प्रकट। ऐसे ही ब्रह्मको जानिये। (ख) 'विवेक' का भाव यह है कि एक अग्नि तो लकड़ीमें है सो प्रकट की जाती है (प्रकट करनेकी बात आगे कहते हैं) और दूसरी प्रकट है, सो प्रकट ब्रह्मकी बात भी आगे कहते हैं।

नोट—१ काष्ठमात्रमें अग्नि गुप्तरूपसे रहता है। वनमें बाँस आदिके परस्पर रगड़से दावाग्नि प्रकट होकर वनको जला डालता है। अरणी लकड़ीको परस्पर रगड़नेसे अग्नि यज्ञके लिये उत्पन्न की जाती है, यथा—'*पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।*' (१। ३१। ६) इससे सिद्ध होता है कि काष्ठमात्रके भीतर अग्नि अव्यक्तरूपसे व्याप्त है, दिखायी नहीं देता। उसी 'अव्यक्त अग्नि' को '*दारु गत पावक*' कहा गया है। दूसरा अग्नि वह है जो संघर्षणसे उत्पन्न होनेपर प्रत्यक्ष देखनेमें आया अथवा प्रकटरूपसे संसारमें देखनेमें आता है और जिससे संसारका काम चलता है। जबतक वह अव्यक्तरूपसे लकड़ीमें रहा तबतक उससे संसारका कोई काम न निकल सकता था। इसी प्रकार ब्रह्मके सम्बन्धसे देह एवं चराचरमात्र काष्ठ है। इस चराचरमात्रमें जो ब्रह्म अव्यक्त अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र व्याप्त है वह अव्यक्त अग्नि (दारुगत पावक) के समान है और वही ब्रह्म जब पर, व्यूह, विभव आदि रूपोंसे व्यक्त होता है तब वह प्रकट पावकके समान है जिससे संसारका हित होता है। इससे जनाया कि तत्त्वतः अव्यक्त और व्यक्त (अगुण और सगुण) दोनों एक ही हैं। केवल अप्रकट और प्रकट भेदसे दोनों भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं।

नोट—२ जैसे बारम्बार संघर्षण करनेसे काष्ठसे अग्नि प्रकट हो जाता है, यथा—'*पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।*' (१। ३१) '*अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥*' (७। १११) वैसे ही इस शरीर (की जिह्वा) रूपी अरणीपर नामको उत्तरारणि करके नामोच्चारणरूप संघर्षण वा मन्थन करनेसे हृदयस्थ ब्रह्म सगुण होकर प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे महाभागवत श्रीप्रह्लादजीके निरन्तर अभ्याससे वह खम्भसे प्रकट हो गया।

नोट—३ सगुण ब्रह्मसे जगत्का काम चलता है। उनके चरित्रोंको गाकर, सुनकर लोग भवपार होते हैं। यथा—'*तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥*...... *सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥*' (१२१-१२२) जैसे प्रकट अग्नि किसी-किसीको जला भी डालता है, वैसे ही व्यक्त ब्रह्मद्वारा दुष्टोंका दलन भी होता है। यथा—'*असुर मारि थापहिं सुरन्ह*...... ।' (१। १२१)

'प्रौढ़ सुजन जनि जानहिं' का अर्थ सुधाकर द्विवेदीजी यों करते हैं कि 'प्रौढ़ सुजन' शङ्कर, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतसिद्धिकर्त्ता मधुसूदन सरस्वती आदि हैं। वे लोग मेरे इस जनकी बात न मानें पर मैं अपने विश्वास और प्रीतिसे अपने मनकी रुचि कहता हूँ और पं० सूर्यप्रसाद मिश्र प्रौढ़का अर्थ 'जबरदस्ती, हठ' करके यह अन्वय करते हैं—'सुजन जनकी (दासकी) प्रौढ़ जनि जानहिं।'

पं० रामकुमारजी—'प्रौढ़ि सुजन जनि' का भाव यह लिखते हैं कि 'मोरें मत' कहनेसे 'प्रौढ़ि' पायी जाती है, इसीसे कहा कि सज्जन इसे 'प्रौढ़ि' न जानें; क्योंकि अपने इष्टमें प्रतीति आदि बताना प्रौढ़ता नहीं है, यथा—'प्राप्तौ सत्यां निषेधः।'

नोट—४ *'बिबेकू'* इति। इस शब्दको देकर जनाया कि इस प्रकार उसको समझ सकते हैं।

नोट—५ इन चौपाइयोंसे मिलती हुई ये श्रुतियाँ श्वेताश्वतरोपनिषद्में हैं—**'वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥'**(अध्याय १।१३-१४) अर्थात् जिस प्रकार अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्निका रूप दिखायी नहीं देता और न उससे लिङ्ग (अव्यक्त, सूक्ष्मरूप) का ही नाश होता है और फिर ईंधनरूपी कारणके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार अग्नि और अग्निलिङ्ग (अव्यक्त अग्नि) के समान ही इस देहमें प्रणवके द्वारा ब्रह्मका ग्रहण किया जा सकता है। अपने शरीरको अरणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे स्वप्रकाश परमात्माको छिपे हुए अग्निके समान देखे।

टिप्पणी—१ *'उभय अगम……'* इति। (क) नामसे ब्रह्मके सुगम होनेकी व्याख्या आगे नहीं दी गयी है; निर्गुण-सगुणसे नाम बड़ा है—केवल इसीकी व्याख्या आगे की है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पूर्व ही जो *'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार'* इस दोहेमें कह आये हैं उसीको विस्तार-से यहाँतक कहा है। (ख) *'जुग सुगम नाम ते'* कहकर सूचित किया कि अन्य साधनोंसे अगम है, नामहीसे सुगम है। यही आशय दोहावलीके *'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवनमूरि॥'* (८) इस दोहेमें पाया जाता है।

नोट—६ (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि नाम राम ब्रह्मसे भी बड़ा है यह ग्रन्थकारका कहना काष्ठाग्नि और संघर्षण दृष्टान्तद्वारा प्रामाणिक ठहरा। (ख) यहाँ दोनों वाक्योंकी समतामें 'प्रतिवस्तूपमालङ्कार' की ध्वनि है। दोनोंकी प्राप्ति दुर्गम है, परन्तु नामसे दोनों सुगम हैं, इस प्रकार नामके ब्रह्म रामसे बड़े होनेका समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। (वीरकवि)

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥ ६॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥ ७॥

अर्थ—जो ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे चराचरमें व्याप्त है, अद्वितीय है, अविनाशी (कभी नाश न होनेवाला) है, सत् चैतन्यघन (चिद्रूप) और आनन्दकी राशि है॥ ६॥ ऐसे सब विकारोंसे रहित प्रभुके हृदयमें रहते हुए भी संसारके सभी जीव दीन और दुःखी हो रहे हैं॥ ७॥

नोट—१ (क) चौपाई ६ में 'ब्रह्म' विशेष्य है और 'व्यापक' आदि छः विशेषण हैं। (ख) व्यापक, एक और 'सत्-चित्-आनन्द' की व्याख्या पूर्व *'एक अनीह……।'* (१।१३।३-४) में हो चुकी है, वहीं देखिये। (ग) *'व्यापक एक……',* यथा—'**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**' (श्वे० उ० ६।११), '**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।**' (तैत्ति० भृगु० ६) अर्थात् समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है जो सर्वव्यापक है और समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है। आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना।

नोट—२ *'व्यापक एक……'* इति। भाव यह है कि ब्रह्मके हृदयस्थ रहनेपर जीवको दीन-दुखारी नहीं होना चाहिये। इस भाव-कथनकी पुष्टिमें यहाँ छः विशेषण दिये गये हैं। इन विशेषणोंके साथ-साथ यह भी ध्वनित है कि ब्रह्म और जीवमें महदन्तर है। *'व्यापक'* कहकर सूचित किया कि ब्रह्म व्यापक है और जीव व्याप्य तथा परिच्छिन्न है। व्यापकताके दृष्टान्त प्रायः 'तिलमें तैल, दूध और दहीमें घी, लकड़ी आदिमें अग्नि, सब पदार्थोंमें आकाश' आदिके दिये जाते हैं। यथा—'**तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः। एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥**', '**सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।**' (श्वेताश्वतर० अ० १५, १६), '**आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः।**' अर्थात् जैसे तिलमें तैल, दहीमें घी, प्रवाहमें जल और अरणीमें अग्नि स्थित है, वैसे ही आत्मामें परमात्मा व्याप्त है। सत्य और तपके द्वारा जो साधक इसे जान जाता है वही

उसको ग्रहण करनेमें समर्थ है। आत्मा सबमें इस प्रकार स्थित है जैसे दूधमें घी। आकाशकी तरह आत्मा सर्वगत और नित्य है। *'व्यापक'* विशेषणसे बताया कि जीव प्रारब्धानुसार कहीं भी जाय तो ब्रह्मसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकता। आगे ब्रह्मको 'सत्-चित्-आनन्द' कहेंगे—*'सत चेतन घन आनंद रासी।'* इससे कोई यह न समझे कि ब्रह्म तीन हैं। अतः कहा कि वह 'एक' है। शरणपालत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ, अकारण दयालुत्व आदि समस्त दिव्य गुणोंमें उसके समान कोई नहीं है यह भी 'एक' से जनाया। इस विशेषणका अभिप्राय है कि ऐसे गुणोंसे युक्त ब्रह्मके साथीको दुःखी न होना चाहिये। आकाश व्यापक है परन्तु कुछ लोग उसको नाशवान् कहते हैं, अतः ब्रह्मको अविनाशी कहा। *'अविनाशी'* की पुष्टिके लिये आगे *'सत'* कहा। जीव भी सत् और अविनाशी है, परन्तु अनादि अविद्यावश वह स्वस्वरूप तथा परस्वरूपको भूल जाता है। अणु-स्वरूप होनेसे जीवका ज्ञान और आनन्द भी संकुचित है। अविद्यारहित और विभु होनेसे ब्रह्मका ज्ञान तथा आनन्द अखण्ड और अपरिमित है; यह दिखानेके लिये 'चेतन' के साथ 'घन' और 'आनन्द' के साथ 'राशि' कहा। अतः जीवका दीन-दुःखी होना ठीक ही है।

अब यह शंका हो सकती है कि—' सत्, चेतन घन, आनंदराशि' तो तीन कहे और तीनोंका अनुभव भी होता है, तब ब्रह्मको 'एक' कैसे कहा ?' इसका समाधान अग्निके दृष्टान्तसे कर सकते हैं। अग्निमें उष्णता, ज्वाला और प्रकाश तीनों हैं पर अग्नि एक ही है।

'ब्रह्म चेतनघन है और व्यापक है। तब अचित्‌में भी तो वह हुआ ही। परन्तु अचित्‌में रहनेसे अचित्‌को भी चेतनवत् भासमान होना चाहिये जैसे शरीरमें चेतनके होनेसे शरीर चेतन भासता है।'—इस शंकाका समाधान यह है कि ब्रह्मके दो स्वरूप हैं, स्थूल और सूक्ष्म, अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त। ब्रह्म जो अन्तर्यामी-रूपसे सर्वत्र स्थित है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है। अव्यक्तस्वरूपके उपर्युक्त सब दिव्य गुण भी अव्यक्त ही रहते हैं, इसीसे अचित्‌में चेतनताका अनुभव हमें नहीं होता। यदि वह चाहे तो उसमें भी चेतनता अनुभवमें आ सकती है।

'अस प्रभु ...... अबिकारी' इति। उपर्युक्त छः विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मको *'अबिकारी'* कहकर जनाया कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर षट्‌विकारोंसे रहित है और जीव 'विकारी' है। जो सर्वव्यापक है, एक अर्थात् अद्वितीय है, उसको कोई कामना होगी ही नहीं, वह पूर्णकाम है। अतः काम-विकार उसमें नहीं है। कामना होनेसे उसकी पूर्त्ति न होनेपर क्रोध होता है और पूर्त्ति होनेपर लोभ और अधिक होता है; यथा—*'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* जब कामना ही नहीं तब क्रोध और लोभ क्योंकर होंगे। तीन विकारोंका न होना इन्हीं दो विशेषणोंसे सिद्ध हो गया। जीवमें ये दो गुण न होनेसे उसमें ये तीनों विकार आ जाते हैं। मोह, मद अज्ञानके कार्य हैं और ब्रह्म चेतनघन अर्थात् अखण्ड ज्ञानवान् है, अतः उसमें ये नहीं हैं। मत्सर तब होता है जब कोई अपने समान हो या अपनेसे बड़ा हो। ब्रह्म 'एक' है, उसके समान या बड़ा कोई नहीं, अतः उसमें यह विकार भी नहीं होता।

भगवान्‌का वास हृदयमें है, यथा—'**एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।**' (श्वे० उ० ४। १७) अर्थात् वह दिव्य क्रीडनशील विश्वका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा सदा ही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है। पुनश्च ''**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।**' (गीता १५। १५), '**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**' अर्थात् 'मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ।', 'प्राणियोंका शासक, सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्ट है'।

नोट—३ श्रीचक्रजी लिखते हैं—(क) यहाँ ब्रह्मके हृदयस्थ स्वरूप चतुर्व्यूहमेंसे वासुदेवरूपका वर्णन है, अद्वैत वेदान्ती इसे द्विविध चेतना कहते हैं। व्यापक तो कह ही दिया तब यहाँ *'हृदय अछत'* की क्या विशेषता ? मोटी बात तो यह है कि अनुभूतिका स्थान हृदय है। दीनता एवं दुःखका अनुभव हृदयमें मनको होता है, अतः वहीं सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसत्ताको बताकर विरोध दिखलाया गया। दूसरे सर्वत्र ब्रह्मका

सद्घन, आनन्दघन, अविनाशी, निर्विकारस्वरूप प्रकाशित नहीं है। (ख) दीन=अभावग्रस्त। दु:खी=अभीष्टके नाशसे युक्त। भाव कि जीव जो चाहता है वह उसे मिलता नहीं और जो कुछ है वह नष्ट होता रहता है, इन्हीं दीनता और दु:खमें सब विकार आ जाते हैं।

नोट—४ पं० रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यह लिखते हैं—'ऐसे विशेषणोंके प्रतिकूल जीवकी दशा हो रही है। अविनाशीके रहते हुए सबका नाश हो रहा है, 'सत्' के समीप रहते हुए भी जीव 'असत्' हो रहा है; चेतनके अछत जड है, आनन्दराशिके रहते हुए जीव दु:खी है, 'अविकारी' के होते हुए विकारयुक्त है। ऐसा अमूल्य रत्न हृदयमें है तो भी जीव दीन (दरिद्र) हो रहा है और सब पदार्थोंके होनेपर भी दु:खी है। दु:खी होनेका कारण केवल यही है कि वह ब्रह्मको नहीं जानता। '*सकल जीव*' इसलिये कहा कि समस्त जीवोंमें ब्रह्म हैं।'

नोट—५ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'वेदान्ती पुकारा करते हैं कि '**सोऽहम्, सोऽहम्**' अर्थात् ब्रह्म मैं ही हूँ, वह मेरे हृदयहीमें अक्षत निर्विकार सच्चिद्घनानन्दराशि बैठा है, परन्तु इस दन्तकथासे कुछ फल प्राप्त नहीं। कहनेवाले सब प्राणी जगत्में दीन और दु:खी देख पड़ते हैं। वह हृदयस्थ ब्रह्म बाहर आकर उन दीन-दु:खियोंकी रक्षा नहीं करता'। (ख) दीन-दु:खी होनेका कारण नाममाहात्म्य न जानना है। (सू० प्र० मिश्र)

नोट—६ '*व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी*' कहकर सूचित किया कि वह बड़ा ही अद्भुत है, कहनेको तो एक है पर चराचरमें स्थित है और जिस चराचरमें व्याप्त है उसके विनाश होनेपर भी वह ब्रह्म अविनाशी ही बना रहता है। ऐसा ब्रह्म भी नामके अधीन है।

नोट—७ ऐसे आनन्दराशि ब्रह्मके हृदयस्थ रहते भी जीव दु:खी है इस कथनमें 'विशेषोक्ति और विरोधाभास' का सन्देह सङ्कर है।

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥ ८॥

शब्दार्थ—निरूपन (निरूपण)=प्रकाश, भलीभाँति उसका यथार्थ स्वरूप, अर्थ, माहात्म्य इत्यादि जानना, समझना और उसपर विश्वास करना, विवेचनापूर्वक निर्णय, विचार। वर्णन, कथन, कीर्त्तन। (सुधाकर द्विवेदीजी) 'जतन'=यजन, अभ्यास, उपाय, यत्न, रटना, जपना, रमना, अभ्यास करना।

अर्थ—वही ब्रह्म, नामका निरूपण करके नामके जपनेसे (वा, नामरूपी यत्नसे), ऐसे प्रकट हो जाता है जैसे रत्नसे मोल॥ ८॥*

टिप्पणी—१ (क) 'ब्रह्म रत्न है। उसका जानना मोल है। बिना जाने जीव दु:खी है। ब्रह्मका प्रकट होना मोलका प्रकट होना है। जैसे रत्नके भीतर मोल था, उसी तरह ब्रह्महीमें ब्रह्म प्रकट हुआ। '*जतन*' जोखनेको कहते हैं। जौहरी रत्नका निरूपण बुद्धिसे करते हैं और उसको जोखते हैं, इसी प्रकार रामनामका अर्थ बुद्धिसे निरूपण करते हैं और उसे जपते हैं। जपना ही जोखना है।' अथवा, (ख) 'जैसे रत्न और मोल पृथक् नहीं, वैसे ही रामनाम और ब्रह्म पृथक् नहीं। रत्नको जौहरी निरूपण करता और जोखता है, रामनामके जौहरी साधु हैं। रत्नके भीतर मोल है, वैसे ही नामके भीतर ब्रह्म है। बिना निरूपण और जतनके मोल प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार रामनामके निरूपण और यत्नके बिना ब्रह्म प्रकट नहीं होता। (ग) रत्न और नाममें यहाँतक सम रूपक दिखाया। आगे नाममें विशेषता यह कहेंगे कि रत्नके मोलका पार है और 'नामप्रभाव' अपार है। (घ) '*मोल रतन तें*' का भाव यह है कि रत्न तो प्रथमसे ही रहा है; पर मोल प्रकट नहीं था, सो प्रकट हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म तो हृदयमें रहा ही है पर प्रकट नहीं था, सो प्रगट हुआ।' अथवा, (ङ) 'ब्रह्म और प्रकट होना दो बातें हैं। ब्रह्म रत्न है और प्रकट होना

* दूसरा अर्थ—नामहीके यत्नसे नामनिरूपण करते-करते (नाममाहात्म्य कहते-कहते) हृदयस्थ ब्रह्म प्रकट हो जाता है। जैसे रत्नकी प्रशंसा करते-करते बिक जानेपर उससे मूल्य (द्रव्य) प्रकट हो जाता है। (मा० प०)

मोल है। इसी तरह रत्न और मोल दो बातें हैं। जैसे मोल और रत्न पृथक् नहीं, वैसे ही ब्रह्म और उसका प्रकट होना पृथक् नहीं।' अथवा, (च) *'नाम निरूपन'* और *'नाम जतन'* ये ही रत्न हैं। इन्हींसे ब्रह्मरूपी मोल प्रकट होता है। नामनिरूपणसे ब्रह्म प्रकट होता है; ऐसा कहनेसे यह पाया जाता है कि नामके अर्थमें निर्गुण ब्रह्म है। बिना ब्रह्मके प्रकट हुए *'नाम निरूपन नाम जतन'* व्यर्थ जान पड़ता है, वैसे ही बिना मोलके रत्न व्यर्थ है।

नोट—*'नाम निरूपन'* इति। नामका रूप, अर्थ, महिमा जो नाम प्रकरण दोहा १७ से २८ (२) तकमें कहा है और जैसा विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, श्रीसीतारामनाम-प्रताप-प्रकाशादि ग्रन्थोंमें दिया है, उसे विचारना, समझना यह निरूपण है। विनयपत्रिकामें, यथा—*'राम (नाम) सुमिरन सब बिधि ही को राज रे। रामको बिसारिबो निषेध सिरताज रे॥ रामनाम महामनि फनि जगजाल रे। मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे॥ रामनाम कामतरु देत फल चारि रे। कहत पुरान बेद पंडित पुरारि रे॥ रामनामप्रेम परमारथ को सारु रे। रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे॥'* (६७), *'राम राम राम जीय जौ लौं तू न जपिहै। तौ लौं जहाँ जैहै तहाँ तिहूँ ताप तपिहै।'* (६८), *'सुमिरु सनेह सों तूं नाम राम राय को। संबरु निसंबरी को सखा असहाय को। भागु है अभागेहू को गुन गुनहीन को। गाहक गरीब को दयालु दानि दीन को॥ कुल अकुलीन को सुने न कोउ साखिहै। पांगुरे को हाथ पांय, आँधरे को आँखि है॥ माय बाप भूखे को, अधार निराधार को। सेतु भवसागर को हेतु सुख सार को॥ पतित पावन रामनाम सों न दूसरो। सुमिरें सुभूमि भयउ तुलसी सो ऊसरो॥'* (६९) इत्यादि, विनयमें बहुतसे पद हैं उन्हें देखिये। कवितावली, यथा—*सोच संकटनि सोच संकट परत, जर जरत, प्रभाउ नाम ललित ललाम को। बूड़ियौ तरति बिगरीयो सुधरति बात, होत देखि दाहिनो सुभाउ बिधि बाम को॥ भागत अभाग अनुरागत बिराग भाग जागत आलसी तुलसीहूँ से निकाम को। धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति, आई मीचु मिटति जपत रामनाम को॥ '* (क० उ० ७५) इत्यादि।

'जिमि मोल रतन तें' इति।

(१) पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर दिये गये। और भाव ये हैं—

(२) रत्नको यदि हम जान लें कि यह पोखराज है, हीरा है इत्यादि, तो नामके (जाननेके) कारण उसका बहुमूल्य होना प्रकट हो जाता है। ऐसे ही नामको गुरु, शास्त्रों आदिद्वारा जानकर अभ्यास करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

(३) रत्नमें उसका मूल्य गुप्त रहता है। यदि वह कुँजड़ेके हाथ पड़ा तो वह पत्थर ही समझता है, वह उसके गुणको क्या जाने ? वही जौहरीके हाथ लगा जो उसका पारखी है तो उसका यथार्थ गुण और मोल प्रकट होता है कि हजार, लाख, करोड़"''' कितनेका है। वैसे ही नाम रत्न है; उसके जापक ही (जो उसके स्वरूप, अर्थ और महत्त्वको जानते हैं) उसके पारखी हैं, जिनको पाकर ब्रह्मरूपी मोल नामसे प्रकट होता है।

इस दृष्टान्तसे भी नामको ब्रह्मसे बड़ा प्रामाणिक ठहराया। जैसे, रत्न, मुहर, रुपयेसे दूसरी वस्तु मोल लेते हैं। जिससे मोल लेते हैं वह वस्तु बड़ी मानी जाती है; रत्न ऐसे भी होते हैं कि उससे राज्यतक मोल ले लेते हैं। इसी प्रकार नामरूपी रत्नके अभ्याससे नामीका प्रकट होना ही मानो नामीको नामसे मोल लेना है। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है।

(४) 'जैसे रत्नसे द्रव्य। अर्थात् जैसे किसी अज्ञके पास रत्न है, वह न तो उसका प्रभाव जानता है और न व्यवहार। जब किसी जौहरीद्वारा उसे बोध होगा कि यह बहुमूल्यका है तो उसकी दीनता जाती रहेगी। परन्तु दुःखारी बना है क्योंकि न तो वह उससे क्षुधाकी निवृत्ति कर सकता है, न ओढ़ सकता है। यह 'दुःख' तभी जायगा जब वह उसका 'यत्न' भी कर लेगा। अर्थात् जब वह उस रत्नको बेचकर उसका मोल प्रकट करके उस द्रव्यसे अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ लेगा। वैसे ही नाम रत्नके

यथार्थ ऐश्वर्यको जाननेवाले सन्त सद्‌गुरु हैं। उनके द्वारा जब यह जीव निश्चय करके नामावलम्बी होकर श्रीरामनामका रटन, कीर्त्तन 'तथा तथ्य' करेगा तब वह 'हृदय अछत अन्तर्यामी व्यापक ब्रह्म भी प्रकट हो जायगा जिसका साक्षात्कार होनेसे वह मायादिकी परवशतारूप दीन-दशा तथा जन्म-मरणादि संसृति दु:खसे निवृत्त हो जायगा। यह रामनामका ऐश्वर्य है।' (श्रीनंगे परमहंसजी)

(५) रत्नके परखनेसे अथवा रत्नका व्यापार करनेसे मोल प्रकट होता है। वैसे ही रामनामका अर्थ समझना उसका परखना है और जपना व्यापार है। मोल अर्थात् द्रव्य निर्गुण ब्रह्म है सो प्रकट हो जाता है। (मा० प्र०)

(६) हृदयरूपी पर्वत-कन्दरामें श्रीराम-ब्रह्मरत्न रहते हैं और उन ब्रह्ममें ब्रह्मसुख रहता है। नामनिरूपणयुक्त नाम जपनेसे ब्रह्मसुख प्रकट होता है। जीव रत्नी, सच्चिदानन्द रत्न, नाम जौहरी, ब्रह्मानन्द मोल है। (मा० मा०),

(७) 'जैसे मोल रत्नसे' का भाव यह है कि रत्न चाहे किसी भी गुह्य स्थलमें क्यों न हो पर यदि कोई मोल लेकर जावे तो उसको प्रकट मिलता है। (पं०)

(८) ऐसे समर्थ प्रभुके हृदयमें रहते हुए भी जीव क्यों दु:खी है, इसका समाधान ***'नाम निरूपन·····'*** में करते हैं। ***'नाम निरूपन'***—किस नामका ? भगवान्‌के तो अनन्त नाम हैं। हमारे अधिकारके अनुसार कौन-सा भगवन्नाम हमारे उपयुक्त है, यह अधिकार-निर्णयपूर्वक प्राप्त दीक्षा और साथ ही नामके स्वरूप, माहात्म्य आदिका ज्ञान प्राप्त करके नाम जपना चाहिये। नाम-निरूपणसे दु:ख-दैन्य तो चला जाता है किन्तु आनन्दोपलब्धि नहीं होती। नामका जप करनेसे वह ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है। उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, ब्रह्मतत्त्व हृदयमें व्यक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, मनोनाश हो जाता है और हृदयका वह वासुदेव सचमुच अन्त:करणमें देदीप्यमान हो उठता है—निर्गुण उपासकोंके लिये इस प्रसङ्गमें अत्यन्त सुन्दर नामसाधनका निर्देश है। समस्त निर्गुण सन्तमत गुरुको परमात्मा मानते हैं और दीक्षापर उनका अत्यन्त बल है। अत: इस निर्गुण साधनामें ***'नाम निरूपन'*** से दीक्षातत्त्व सूचित किया गया है। आगे सगुणोपासकके लिये दीक्षाका कहीं प्रतिबन्ध नहीं बताया है। (श्रीचक्रजी)

नोट—इस प्रसङ्गमें व्यापकादिगुणविशिष्ट ब्रह्म (अव्यक्त) के हृदयमें रहते हुए भी जीवका ***'दीन दुखारी'*** होना तो बताया गया, परन्तु ***'नाम निरूपन'*** पूर्वक नामजपद्वारा उसका प्रकटमात्र होना ही यहाँ कहा, जीवका सुखी होना स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा गया। तो क्या यह समझा जाय कि जीव फिर भी दु:खी ही रहता है ? नहीं। यहाँ प्रसङ्ग केवल नामका अपार प्रभाव दिखानेका है, जीवके दु:खी-सुखी होनेके कथनका नहीं। इसलिये सुखी होनेके विषयमें स्पष्ट उल्लेखका प्रयोजन नहीं। दूसरे यहाँ ब्रह्मके हृदयमें रहते हुए भी जीवका दु:खी होना और फिर नामजपसे उसका प्रकट होना कहनेसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म बिना ***'नामनिरूपन नाम जतन'*** के अप्रकट था, वह इस साधनसे प्रकट हुआ। जैसे पूर्व अप्रकट होना केवल आशयसे जनाया वैसे ही यहाँ प्रकट होनेके कथनमात्रसे जीवका सुखी होना भी सूचित कर दिया गया है।

ब्रह्मका साक्षात् प्रकट होना, उसका हृदयमें साक्षात्कार होना एवं उसकी महिमाको जान लेना—ये सब अर्थ ***'सोउ प्रगटत'*** के हो सकते हैं। इन तीनों प्रकारोंसे जीव सुखी होता है। प्रह्लादजीके लिये नामके साधनसे ही ब्रह्म प्रकट हुआ और वे सुखी हुए। साक्षात्कार तथा महिमाका ज्ञान होनेसे जीवके सुखी होनेका प्रमाण एक तो अनुभव ही है, दूसरे श्रुति भी प्रमाण है। यथा—**'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक:।'** (श्वेताश्वतर उ० ४। ७), **'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।'** (श्वे० उ० ६। १२) अर्थात् उस परमात्माकी सेवा करनेसे जब जीव उसकी महिमाको जानता है तब उसका शोक नष्ट होता है। अपने हृदयमें स्थित उस परमात्माका जब साक्षात्कार कर लेते हैं, तब उन्हींको नित्यसुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।